अनासक्तियोग

महात्मा गांधी द्वारा गुजराती में अनूदित श्रीमद्भगवद्गीता का हिन्दी रूपान्तर

रूपान्तरकार: सोमेश्वर पुरोहित

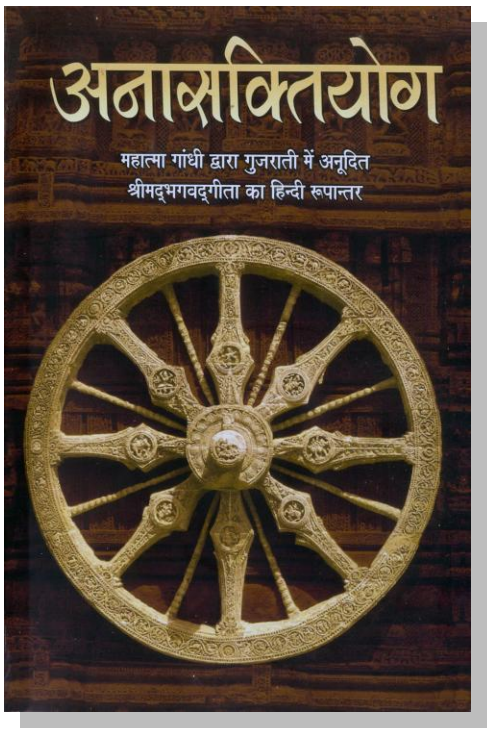

नवजीवन प्रकाशन मंदिर

अहमदाबाद-३८००१४

अधिकृत आवृत्ति

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का यह अनुवाद करने के लिए गांधीजी गीता के अनुसार जीवन जीने की अखण्ड और उत्कट साधना में से बड़ी कठिनाई से समय निकाल सके थे | शुरू शुरू में वे अपनी यात्रा में प्रतिदिन एक-एक श्लोक का ही अनुवाद करते थे; परन्तु अत्यन्त नियमित रूप में | आगे चलकर प्रतिदिन दो दो तीन तीन श्लोकों का अनुवाद भी वे कर लेते थे | ऐसा करते करते ता. २४-६-'२९ के दिन उन्होंने हिमालय के कौसानी नामक स्थान में यह अनुवाद पूरा किया | और अनुवाद की यह पूरी पुस्तक राजनीतिक आंदोलन की भारी धाँधल के दिनों में जल्दी जल्दी में प्रकाशित हुई |

गांधीजी ने इसे 'अनासक्तियोग' जैसा हृदय में सदा के लिए अंकित हो जाने वाला नाम दिया |

यह अनुवाद ठीक दांडीकूच के दिन (ता. १२-३-'३०) प्रकाशित हुआ था; और गांधीजी अपने ८० साथियों के साथ सत्याग्रह आश्रम के बाहर कदम रख रहे थे, उसी समय इसकी पहली प्रति उनके हाथों में और उनके इन साथियों के हाथों में रखी गई थीं |

इस अनुवाद के साथ गीता के मूल संस्कृत श्लोक दिए जाएँ या नहीं, इस विषय में उस समय बहुत चर्चा हुई थी | गांधीजी अपने अनुवाद के साथ मूल संस्कृत श्लोक नहीं देना चाहते थे | उनकी पहली दलील यह थी कि घर घर लोगों के पास संस्कृत गीता होती ही है | इसलिए मेरा यह अनुवाद पढ़ना चाहने वालों पर दुबारा संस्कृत श्लोक खरीदने का बोझ डालना ठीक नहीं होगा |

अपनी दूसरी दलील उन्होंने संकोच के कारण पहले तो पेश नहीं की | लेकिन जब इस विषय में चर्चा बढ़ी तो अपनी यह दलील उन्होंने स्पष्ट शब्दों में हमारे सामने रखी | उन्होंने कहा कि "यह 'अनासक्तियोग' गीता का प्रामाणिक अनुवाद तो है; फिर भी इसके भीतर हम आश्रमवासियों का जीवन-दर्शन आ जाता है इसलिए आगे चलकर गीता के अनुवाद के रूप में

नहीं, परन्तु स्वतंत्र निदान-ग्रंथ के रूप में भी इस पुस्तक का उपयोग होगा |" गांधीजी ने उदाहरण दिया कि अंग्रेजी में बाइबल का जो अधिकृत अनुवाद (authorized version) हुआ है, उसी को इंग्लैंड के लोग अपनी बाइबल मानते हैं | मूल हिब्रू या ग्रीक बाइबल की और वे नहीं जाते; उसका आधार वे नहीं लेते |

मैंने गांधीजी से कहा "हमारे देश में भी ऐसा उदाहरण है | महारष्ट्र के वारकरी संप्रदाय के लोग ज्ञानेश्वर महाराज की ज्ञानेश्वरी को ही अपने लिए प्रमाणभूत धर्म ग्रंथ मानते हैं | ज्ञानेश्वरी महाभारत की अंगभूत मूल संस्कृत भगवद्गीता का भाष्य है, इससे वे इनकार नहीं करते | किन्तु मूल गीता और उसके दूसरे भाष्यों की ओर जाने से वे बिलकुल इनकार करते हैं | वे दृढ़ता से कहते हैं कि 'ज्ञानेश्वरी ही हमारी आध्यात्मिक माता है |""

इस पर गांधीजी ने कहा "मेरा 'अनासक्तियोग' का अनुवाद जरा जल्दी में हुआ है | भाषा आदि की दृष्टि से इसे एक बार फिर से देख जाना चाहिए | उसके बाद इसमें कोई परिवर्तन न हो, ऐसा हमें आग्रह रखना चाहिए |" उन्होंने दुबारा अंग्रेजी बाइबल का उदाहरण देकर कहा "उस अधिकृत अनुवाद की शैली का भी अंग्रेजी भाषा पर अद्भुत प्रभाव पड़ा है |"

'अनासक्तियोग' को फिर से देख जाने की और उसकी भाषा को माँजकर अंतिम रूप देने की गांधीजी की बड़ी इच्छा होने पर भी वे ऐसा कर नहीं सके |

आखिर में एक दिन नवजीवन के व्यवस्थापक श्री जीवणजी देसाई का ता. २७-१-'४८ का पत्र मुझे मिला, जिसमें लिखा था "पूज्य बापूजी के उपवास से पहले मैं दिल्ली गया था | उस समय 'अनासक्तियोग' के विषय में बापूजी के साथ मेरी बात हुई थी | श्री किशोरलालभाई ने भाषा की दृष्टि से उसमें जो सुधार किए थे, उन सुधारों वाली प्रति स्व. महादेवभाई के पुस्तक-संग्रह में मिल गई थी | वह प्रति मैंने बापूजी को देख जाने के लिए भेजी थी |... उन्हें यह काम करने के लिए अब समय मिलना संभव नहीं है, इसलिए उन्होंने आपको यह काम सौंपा है | पहलेपहल जब यह अनुवाद प्रकाशित हुआ था, तब आपने इस पर बहुत परिश्रम किया था |

अब मुझे बापूजी की ओर से यह सूचना मिली है कि 'काकासाहब को यह काम सौंप दो और वे इसे जैसा रूप दें उस रूप को अंतिम मानकर इसे प्रकाशित करो |' इसलिए आप सुविधा से यह प्रति देख कर इसमें योग्य संशोधन आदि करके मुझे भेज दें, जिससे पुस्तक का नया संस्करण छापा जा सके |"

पूज्य बापूजी से मेरा अंतिम मिलन ८ और ९ जनवरी को हुआ था | उसके बाद का उनका उपर्युक्त आदेश मुझे, तो उसे बापूजी का सबसे बड़ा अनुग्रह समझ कर यह काम मैंने अपने सिर ले लिया | और स्व. महादेवभाई द्वारा किया हुआ 'अनाशाक्तियोग' का अंग्रेजी अनुवाद, श्री किशोरलालभाई की विस्तृत सूचनाएँ तथा श्री विनोबाजी की 'गीताई'- इस सारे साहित्य और सामग्री की सहायता से तथा लगभग २० वर्ष पूर्व गीता के प्रत्येक महत्वपूर्ण श्लोक पर पूज्य बापूजी के साथ मेरी जो चर्चा हुई थी उसके स्मरण को यथासंभव ताजा करके मैंने नम्रतापूर्वक और भक्तिभाव से 'अनासक्तियोग' का यह संपादन किया है |

इस सम्बन्ध में मैं कुछ फुटकर बातों का यहाँ स्पष्टीकरण कर देना चाहता हूँ | 'अनासक्तियोग' की इस आवृत्ति में विषय के अनुसार संपूर्ण गीता के ५६ अधिकरण बनाएँ गए हैं | इससे मूल गीता के अठारह अध्यायों की रचना में किसी प्रकार का हस्तक्षेप किए बिना विषय-विवेचन के लिए अनुकूल विभाग हो सके हैं |

'लोक-संग्रह' शब्द का अर्थ सामान्य लोग यह करते हैं: 'जनता को संभाल ने और प्रसन्न करने के लिए लोगों की भावनाओं और गलत मान्यताओं को स्वीकार करना और उनके मन को दु:खी बनाने की अपेक्षा उन्हें अज्ञान में रहने देना |' यह रूढ़ बना हुआ अर्थ गलत है, ऐसा दिखाने के लिए 'लोक-संग्रह' का श्री शंकराचार्य ने जो सही अर्थ किया है, उसे एक टिप्पणी में मैंने बाद में जोड़ दिया है |

यह आवृत्ति प्रकाशित करते समय (जून १९६०) 'गिताबोध' से गांधीजी के ही कुछ वाक्य दो-तीन टिप्पणियों में जोड़ने का लाभ मैंने उठाया है | ऐसे वाक्यों से गांधीजी का भाव अधिक स्पष्ट हो सका है |

चौथे अध्याय के अठारहवें श्लोक के नीचे दी गई गांधीजी की टिप्पणी को मैं पूरी तरह समझ नहीं पाया हूँ | 'जो अकर्ता आत्मा अपने को कर्ता मानती है, उसे मानो पक्षाघात हो गया है...' आदि जो कुछ उसमें लिखा गया है, उसका अर्थ मुझे स्पष्ट नहीं हुआ है | श्री महादेवभाई ने अपने अंग्रेजी अनुवाद में इतना भाग छोड़ ही दिया है | मैंने उसे जैसा है वैसा रहने दिया है |

२

भारतीय दार्शनिक परंपरा का एक नियम यह है कि जो व्यक्ति उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गोता-तीनों का समन्वय करके दिखा दे और इस प्रस्थानत्रयो में से एक ही तत्त्वज्ञान निचोड़ कर प्रस्तुत कर दे, उसे आचार्य माना जाए और उसीकी बात सुनी और मानी जाएँ |

इसका कारण यह है: उपनिषदों के ऋषियों ने उत्कट साधनामय जीवन जीकर उसमें से जो तत्वज्ञान खोज निकालने का प्रयत्न किया है, वह मूलतः अनुभव पर आधारित है | इसलिए उन ऋषियों ने अनेक प्रकार से ('बहु-धा') बातें की हों, तो भी उनका सार एक ही हो सकता है |

इन उपनिषदों के ही आर्ष वचनों के निष्कर्ष के रूप में तत्त्वज्ञान अर्थात् वेदांत-दर्शन को जन्म देने का कार्य ब्रह्मसूत्रों ने किया है |

और, अन्त में इन्हीं उपनिषदों के बचनों के आधार पर तथा ब्रह्मवाचक सूत्रों की सहायता से गीता ने जीवन जीने की सर्वोच कला प्रस्तुत की है | इस प्रकार समस्त उपनिषदों के दोहन के रूप में तैयार हुए इस श्रेष्ठ उपनिषद् को भगवान गोपाल कृष्ण ने गाया, इसलिए इसमें संपूर्ण ब्रह्मविद्या भी आ गई है और उस ब्रह्मविद्या के आधार पर जीवन का निर्माण करने के लिए मनुष्य को कैसा व्यवहार करना चाहिए इसकी कुँजी बताने वाला योगशास्त्र भी आ गया है | इस ब्रह्मविद्या के और योगशास्त्र के अनेक पहलू अच्छी तरह समझ में आ जाएँ, इसके लिए

भगवान व्यास ने वह संपूर्ण विवेचन गीता में प्रश्नोत्तर के रूप में, संवाद के रूप में दिया है | उसमें अर्जुन कर्मवीर भक्त हैं और श्रीकृष्ण स्वयं ज्ञानमूर्ति योगेश्वर हैं |

उन योगेश्वर श्रीकृष्ण के उपदेश का अर्थ सत्यधर्मी कर्मवीर गांधीजी ने अपने पारमार्थिक जीवन के अनुभवों के आधार पर यहाँ स्वभाषा (गुजराती) में कर दिया है | अतः इस अर्थ में जीवन-वीर गांधीजी की जीवन दृष्टि प्रतिबिम्बित हुई है | इसके पीछे अनुभवों का आधार होने के कारण यह वस्तु स्वयं ही अपना प्रमाण है | पाठक इस अर्थ को इसी दृष्टि से देखें | गांधीजी के उस समय के शब्दों में ही कहें तो:

"इस अनुवाद के पीछे गत ३८ वर्षों के आचरण के प्रयत्न का मेरा दावा है | इस कारण से मैं यह अवश्य चाहूँगा कि ऐसे सब गुजराती पुरुष और स्त्रियाँ, जो धर्म को आचरण में उतारना चाहते हैं, इस अनुवाद को पढ़ें, इस पर विचार करें और इसमें से शक्ति प्राप्त करें |"

बम्बई, ६-६-४९

प्रस्तावना

१

जिस प्रकार मैंने स्वामी आनंद आदि मित्रों के प्रेम के वश होकर सत्य के प्रयोगों तक मर्यादित आत्मकथा लिखना आरंभ किया था, उसी प्रकार इन मित्रों के कहने से मैंने गीताजी का अनुवाद भी आरंभ किया है | स्वामी आनंद ने असहयोग आंदोलन के युग में मुझसे कहा था: "आप गीता का जो अर्थ करते हैं वह हमारी समझ में तभी आ सकता है जब आप एक बार उस अनुवाद को आदि से अन्त तक पढ़ जाएँ | आप अलग अलग बिखरे हुए श्लोकों में से अहिंसा आदि का अर्थ निकालें, यह मुझे तो ठीक नहीं लगता |" मुझे उनकी इस दलील में तथ्य मालूम हुआ | मैंने उत्तर दिया "मैं फुरसत मिलने पर यह काम करूँगा |" इसके बाद मैं जेल में गया | वहाँ मैं कुछ अधिक गहराई से गीता का अध्ययन कर सका | लोकमान्य (तिलक) का ज्ञान-भंडार[१] मैंने पढ़ा | उन्होंने इससे पहले मुझे (गीता-रहस्य के) मराठी, हिंदी और गुजराती अनुवाद प्रेमपूर्वक भेजे थे और ऐसी सिफारिश की थी कि मैं मराठी न पढ़ सकूँ तो गुजराती अनुवाद जरूर पढ़ जाऊँ |

जेल के बाहर तो मैं नहीं पढ़ पाया, लेकिन जेल में मैंने गुजराती अनुवाद पढ़ा | यह अनुवाद पढ़ने के बाद गीता के विषय में अधिक साहित्य पढ़ने की मेरी इच्छा हुई और मैंने गीता से सम्बन्ध रखने वाले अनेक ग्रंथ पढ़े |

गीता का प्रथम परिचय मुझे एडविन आर्नल्ड के पद्य-अनुवाद[२] से सन् १८८८-८९ में हुआ था | उसके बाद गीता का गुजराती पढ़ने की तीव्र इच्छा हुई और जितने अनुवाद हाथ लगे उन सबको मैं पढ़ गया |

लेकिन ऐसा वाचन मुझे गीता का अपना अनुवाद जनता के सामने रखने का बिलकुल अधिकार नहीं देता | इसके सिवा, मेरा संस्कृत का ज्ञान बहुत थोड़ा है; गुजराती का ज्ञान भी विद्वत्तापूर्ण नहीं कहा जा सकता | तब मैंने गीता का अनुवाद करने की धृष्टता क्यों की?

गीता को मैंने जिस रूप में समझा है उस रूप उसका आचरण करने का मेरा अपना और मेरे साथ रहे कुछ साथियों का सतत प्रयत्न रहा है | गीता हमारे लिए आध्यात्मिक निदान-ग्रन्थ[३] है | गीता के अनुसार आचरण करने में हमें रोज असफलता मिलती है; परन्तु वह असफलता प्रयत्न करने पर भी हमें मिलती है | उस असफलता में हम सफलता की उगती किरणों के दर्शन करते हैं | हमारा छोटा-सा जन-समूह गीता के जिस अर्थ को आचरण में उतारने का प्रयत्न करता है, वही अर्थ इस अनुवाद में दिया गया है |

इसके सिवा, इस अनुवाद की कल्पना ऐसी स्त्रियों, वैश्यों और शुद्र जैसे लोगों के लिए ही की गई हैं, जिन्हें बहुत कम अक्षर-ज्ञान है, जिनके पास मूल संस्कृत में गीता को समझने का समय नहीं है, इच्छा भी नहीं है, परन्तु जिन्हें गीतारूपी सहारे की आवश्यकता है |

मेरा गुजराती भाषा का ज्ञान थोड़ा है, फिर भी उस ज्ञान के द्वारा मेरे पास जो भी पूँजी है वह सब गुजरातियों को दे जाने की मेरे मन में हमेशा बहुत बड़ी अभिलाषा रही है | मैं यह ज़रूर चाहूँगा कि आज जब गंदे, अश्लील साहित्य का तेज़ प्रवाह बह रहा है, उस समय हिन्दू धर्म का जो अद्वितीय ग्रंथ माना जाता है उसका सरल अनुवाद गुजराती जनता को मिले और उसे पढ़कर इस प्रवाह का विरोध करने की शक्ति वह प्राप्त करे |

इस अभिलाष में गीता के दूसरे गुजराती अनुवादों की अवगणना करने का हेतु नहीं है | उन सबका अपना स्थान हो सकता है; परन्तु उन अनुवादों के पीछे अनुवादकों का आचरण-रूपी अनुभव का दावा है, ऐसा मैं नहीं जानता | इस अनुवाद के पीछे गत ३८ वर्षों के आचरण के प्रयत्न का मेरा दावा है | इस कारण से मैं यह अवश्य चाहूँगा कि ऐसे सब गुजराती पुरुष और स्त्रियाँ, जो धर्म को आचरण में उतारना चाहते हैं, इस अनुवाद को पढ़ें, इस पर विचार करें और इसमें से शक्ति प्राप्त करें |

इस अनुवाद के पीछे मेरे साथियों की मेहनत है | मेरा संस्कृत का ज्ञान बहुत अधूर होने से शब्दार्थ के बारे में मुझे पूरा भरोसा नहीं हो सकता | अतः उस दृष्टि से इस अनुवाद को विनोबा, काका कालेलकर, महादेव देसाई तथा किशोरलाल मशरूवाला देख गए हैं |

१.गीता-रहस्य | का.

२.Song Celestial-का.

३. निदान=उलझनों के कारण खोजने वाला शास्त्री |-का.

२

अब मैं गीता के अर्थ पर आता हूँ|

सन् १८८८-८९ में जब मुझे गीता का प्रथम दर्शन हुआ तभी मुझे यह लगा था कि गीता ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं है, परन्तु इसमें भौतिक युद्ध के वर्णन को निमित्त बनाकर प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निरंतर चलने वाले द्वन्द्वयुद्ध का ही वर्णन किया गया है | मानव योद्धाओं की रचना हृदय के भीतर के युद्ध को रसप्रद बनाने के लिए की गई कल्पना है | मन में पैदा हुई यह प्राथमिक स्फुरणा धर्म का और गीता का विशेष चिंतन-मनन करने के बाद पक्की हो गई | महाभारत पढ़ने के बाद मेरा यह विचार और भी दृढ़ हो गया | महाभारत ग्रंथ को मैं आधुनिक अर्थ में इतिहास नहीं मानता | इसके प्रबल प्रमाण आदिपर्व में ही हैं | पात्रों की अमानुषी और अतिमानुषी उत्पत्ति का वर्णन करके व्यास भगवान ने राजा और प्रजा के इतिहास को मिटा दिया है | महाभारत में वर्णित पात्र मूलतः ऐतिहासिक भले हों, लेकिन महाभारत में तो व्यास भगवान ने उनका उपयोग केवल धर्म का दर्शन कराने के लिए ही किया है |

महाभारतकार ने भौतिक युद्ध की आवश्कता सिद्ध नहीं की है; परन्तु उसकी निरर्थकता सिद्ध की है | विजेताओं से उन्होंने रुदन कराया है, पश्चात्ताप कराया है और दुःख के सिवा दूसरा कुछ उनके जीवन में रहने नहीं दिया है |

इस महाग्रंथ महाभारत में गीता सर्वोच्च स्थान पर बिराजती है | उसका दूसरा अध्याय भौतिक युद्ध का व्यवहार सिखाने के बदले स्थितप्रज्ञ के लक्षण सिखाता है | स्थितप्रज्ञ का सांसारिक युद्ध के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, यह बात मुझे तो उसके लक्षणों में ही निहित दिखाई दी है | परिवार के मामूली झगड़े के औचित्य या अनौचित्य का निर्णय करने के लिए गीता जैसी पुस्तक नहीं रची जा सकती |

गीता के कृष्ण मूर्तिमान शुद्ध-संपूर्ण ज्ञान हैं, परन्तु वे काल्पनिक हैं | यहाँ मेरा हेतु कृष्ण नाम के अवतारी परुष का निषेध करना नहीं हैं | मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ की संपूर्ण कृष्ण काल्पनिक हैं, संपूर्ण अवतार का आरोपण उन पर बाद में हुआ है |

अवतार का अर्थ है शरीरधारी विशिष्ट पुरुष | जीवमात्र ईश्वर के अवतार हैं, परन्तु लौकिक भाषा में हम सबको अवतार नहीं कहते | जो पुरुष अपने युग में सबसे श्रेष्ठ धर्मवान परुष होता है, उसे भविष्य की प्रजा अवतार के रूप में पुजती है | इसमें मुझे कोई दोष नहीं मालूम होता | इससे न तो ईश्वर की महत्ता को लांछन लगता है, और न इससे सत्य को ही आघात पहुँचता है | 'आदम खुदा नहीं; लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं |' जिस पुरुष में अपने युग में सबसे अधिक धर्म-जागृति होती है, वह विशेषावतार माना जाता है | इस विचारसरणी के अनुसार आज हिन्दू धर्म में कृष्णरूपी संपूर्ण अवतार साम्राज्य भोगता है |

अवतार में यह विश्वास मनुष्य की अंतिम उदात्त आध्यात्मिक अभिलाषा का सूचक है | ईश्वर-रूप हुए बिना मनुष्य को सुख नहीं मिलता, शांति का अनुभव नहीं होता | ईश्वर-रूप बनने के लिए किए जाने वाले प्रयत्न का ही नाम सच्चा और एकमात्र पुरुषार्थ है और वही आत्म-दर्शन है |यह आत्म-दर्शन जिस प्रकार समस्त धर्मग्रंथों का विषय है, उसी प्रकार गीता का भी है | लेकिन गीताकार ने इस विषय का प्रतिपादन करने के लिए गीता की रचना नहीं की है | गीता का उद्देश्य आत्मार्थी को आत्म-दर्शन करने का एक अद्वितीय उपाय बताना है | जो बात हिन्दू धर्मग्रंथों में यहाँ वहाँ बिखरी हुई देखने में आती है, उसे गीता ने अनेक रूपों में, अनेक शब्दों में, पुनरुक्ति का दोष मोल लेकर भी अच्छी तरह स्थापित किया है |

वह अद्वितीय उपाय है कर्म के फल का त्याग |

इस केन्द्र बिंदु के आसपास गीता का सारा विषय गूंथा गया है | भक्ति, ज्ञान आदि ने इस केन्द्र बिंदु के आसपास तारा-मंडल के रूप में अपना-अपना उचित स्थान ग्रहण कर लिया है | जहाँ देह है वहाँ कर्म तो है ही | कर्म से कोई मनुष्य मुक्त नहीं है | फिर भी सारे धर्मों ने यह प्रतिपादन किया है कि देह को प्रभु का मंदिर बनाने से उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है | परन्तु प्रत्येक कर्म में कुछ न कुछ दोष तो होता ही है | और मुक्ति केवल निर्दोष मनुष्य को ही मिलती है | तब कर्म के बंधन से अर्थात् दोष के स्पर्श से कैसे छूटा जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर गीताजी ने निश्चयात्मक शब्दों में दिया है: 'निष्काम कर्म करके; यज्ञार्थ कर्म करके; कर्म के फल का त्याग करके; सारे कर्म कृष्णार्पण करके-आर्थात् मन, वचन और काया को ईश्वर में होम कर |'

परन्तु निष्कामता, कर्म के फल का त्याग, केवल कह देने से ही सिद्ध नहीं हो जाता | वह केवल बुद्धि का प्रयोग नहीं है | वह हृदय-मन्थन से ही उत्पन्न होता है | यह त्यागशक्ति उत्पन्न करने के लिए ज्ञान का होना आवश्यक है | एक प्रकार का ज्ञान तो अनेक पंडित प्राप्त करते हैं | वेदादि उन्हें कंठाग्र होते हैं; परन्तु उनमें से बहुतेरे भोगादि में रचे-पचे रहते हैं | ज्ञान की अतिशयता शुष्क पांडित्य का रूप न ले ले, यह सोचकर गीताकार ने ज्ञान के साथ भक्ति को मिला दिया; और उसे प्रथम स्थान दिया | भक्ति-रहित ज्ञान विकृत रूप ले सकता है | इसलिए उन्होंने कहा है कि 'भक्ति करो तो ज्ञान की प्राप्ति होगी ही |' परन्तु भक्ति तो 'सिर का सौदा' है | अतः गीताकार ने भक्त के लक्षण स्थितप्रज्ञ के लक्षणों जैसे बताए हैं |

इसलिए गीता की भक्ति कोई बावरापन नहीं है, अंधश्रद्धा भी नहीं है, | गीता में बताई गई भक्ति का बाहरी चेष्टाओं या क्रियाओं के साथ कम से कम सम्बन्ध है | भक्त माला, तिलक, अर्ध्य आदि साधनों का भले ही प्रयोग करे, परन्तु ये भक्ति के लक्षण नहीं हैं | जो किसीसे द्वेष नहीं करता, जो करुणा का भंडार है, जो अहंता और ममता से मुक्त है, जिसके लिए सुख-दुःख, सरदी-गरमी समान हैं, जो क्षमावान है, जो सदा संतुष्ट रहता है, जिसके निश्चय कभी बदलते नहीं,

जिसने आपना मन और बुद्धि ईश्वर को अर्पण कर दिए हैं, जिससे लोग त्रस्त नहीं होते, जो लोगों से डरता नहीं, जो हर्ष-शोक-भय आदि से मुक्त है, जो पवित्र है, जो कार्यदक्ष होते हुए भी तटस्थ है, जो शुभाशुभ का त्याग करने वाला है, जो शत्रु और मित्र दोनों के प्रति समान भाव रखता है, जिसकी दृष्टि में मान और अपमान समान हैं, जो प्रशंसा से फूलता नहीं और निंदा से खिन्न नहीं होता, जो मौन धारण करने वाला है, जिसे एकान्त प्रिय है और जिसकी बुद्धि स्थिर है, वह भक्त है |

ऐसी भक्ति आसक्त स्त्री-पुरुषों में संभव नहीं है |

इस परसे हम देखते हैं कि ज्ञान प्राप्त करना, भक्त होना ही आत्म-दर्शन है | आत्म-दर्शन इससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है | जिस प्रकार एक रुपया देकर जहर भी खरीदा जा सकता है और अमृत भी खरीदा जा सकता है, उसी प्रकार ज्ञान अथवा भक्ति के बदले में बँधन भी प्राप्त किया जा सके और मोक्ष भी प्राप्त किया जा सके ऐसी बात नहीं है | यहाँ साधन और साध्य यदि पूर्णतया एक नहीं तो लगभग एक ही हैं | साधन की पराकाष्ठा ही मोक्ष है | और गीता के मोक्ष का अर्थ है परम-शांति |

परन्तु ऐसे ज्ञान और ऐसी भक्ति को कर्मफल के त्याग की कसौटी पर चढ़ना होगा | साधारण लोगों की कल्पना में शुष्क पंडित भी ज्ञानी माना जाता है | उसके लिए कोई कम करना जरूरी नहीं है | लोटे जैसी चीज को उठाना भी उसके लिए कर्म-बन्धन का कारण हो जाता है! यज्ञशून्य मनुष्य जहाँ ज्ञानी माना जाय वहाँ लोटा उठाने जैसी तुच्छ लौकिक क्रिया का स्थान ही कैसे हो सकता है?

साधारण लोगों की कल्पना में भक्त वह है, जो भगवान की भक्ति में बावरा हो जाता है, मला हाथ में लेकर भगवान का नाम जपता है, सेवा का काम करने से भी जिसके माला फेरने में बाधा पड़ती है, इसलिए जो खान-पान वगैरा भोग भोगने के समय ही मला को हाथ से छोड़ता है, -चक्की चलाने के लिए या बीमार की सेवा-चाकरी करने के लिए कभी नहीं छोड़ता |

ऐसे ज्ञानियों और ऐसे भक्तों को गीता ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है: "कर्म के बिना किसी को सिद्धि प्राप्त नहीं हुई | जनक आदि भी कर्म के द्वारा ज्ञानी बने | यदि मैं भी आलस्य-रहित होकर कर्म न किया करूँ, तो इन सारे लोगों का नाश हो जाएँ |" तब फिर सामान्य लोगों के बारे में तो पूछना ही क्या?

परन्तु एक ओर वह निर्विवाद है कि कर्ममात्र बन्धन-रूप है | दूसरी ओर देहधारी मानव इच्छा या अनिच्छा से भी कर्म किया करता है | शरीर या मन की प्रत्येक चेष्टा कर्म है | तब कर्म करते हुए भी मनुष्य बन्धन से मुक्त कैसे रह सकता है? जहाँ तक मैं जानता हूँ, इस समस्या का निराकरण जैसा गीताजी ने किया है वैसा अन्य किसी भी धर्मग्रंथ ने नहीं किया है | गीता कहती है 'फल की आसक्ति छोड़कर कर्म करो', 'आशा-रहित होकर कर्म करो', 'निष्काम बनकर कर्म करो |' यह गीता की ऐसी ध्वनी है, जो भूली नहीं जा सकती | जो मनुष्य कर्म को छोड़ता है वह गिरता है | कर्म करते हुए भी जो उसके फल को छोड़ता है वह ऊँचा उठता है |

फलत्याग का अर्थ कर्म के परिणाम के विषय में लापरवाह रहना नहीं है | परिणाम का और साधन का विचार करना तथा दोनों का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है | इतना करने के बाद जो मनुष्य परिणाम की इच्छा किए बिना साधन में तन्मय रहता है, वह फलत्यागी कहा जाता है |

परन्तु यहाँ फलत्याग का कोई ऐसा भी अर्थ न करे कि त्यागी को कर्म का फल नहीं मिलता | गीता में ऐसे अर्थ के लिए कहीं भी अवकाश नहीं है | फलत्याग का अर्थ है फल के विषय में आसक्ति का अभाव | वास्तव में फल का त्याग करने वाले को हजार गुना फल मिलता है | गीता के फलत्याग में तो मनुष्य की अखूट श्रद्धा की परीक्षा है | जो मनुष्य परिणाम का ध्यान किया करता है, वह अधिकतर कर्म-कर्तव्य-भ्रष्ट हो जाता है | वह अधीर बन जाता है, इसलिए क्रोध के वश हो जाता है, और बाद में वह न करने योग्य काम करने लगता है | एक कर्म से वह दूसरे कर्म में और दूसरे से तीसरे कर्म में उलझता रहता है | कर्म के परिणाम का चिंतन करने वाले मनुष्य की स्थिति विषय से अँधे बने हुए मनुष्य के समान हो जाती है; और अन्त में वह विषयी

मनुष्य की तरह भले-बुरे का, नीति-अनीति का विवेक छोड़ देता है तथा फल पाने के लिए चाहे जैसे साधनों का उपयोग करता है और उसे धर्म मानता है |

फलासक्ति के ऐसे कड़वे परिणामों से गीताकार ने अनासक्ति का अर्थात कर्मफल के त्याग का सिद्धांत निकाला है और उसे दुनिया के सामने अत्यन्त आकर्षक भाषा में रखा है |

सामान्यतः यह माना जाता है कि धर्म और अर्थ परस्पर विरोधी हैं | "व्यापार आदि सांसारिक व्यवहारों में धर्म का पालन नहीं हो सकता, धर्म के लिए स्थान नहीं हो सकता; धर्म का उपयोग केवल मोक्ष के लिए ही किया जा सकता है | धर्म के स्थान पर धर्म शोभा देता है; अर्थ के स्थान पर अर्थ शोभा देता है |" मैं मानता हूँ कि गीताकार ने इस भ्रम को दूर कर दिया है | उन्होंने मोक्ष और सांसारिक व्यवहार के बीच ऐसा कोई भेद नहीं रखा है; परन्तु धर्म को व्यवहार में उतारा है | जो धर्म व्यवहार में नहीं उतारा जा सकता वह धर्म ही नहीं है-यह बात गीता में कही गई है, ऐसा मुझे लगा है | अतः गीत के मत के अनुसार जो कर्म आसक्ति के बिना हो ही न सकें वे सब त्याज्य हैं-छोड़ देने लायक हैं | यह सुवर्ण नियम मनुष्य को अनेक धर्म-संकटों से बचाता है | इस मत के अनुसार हत्या, झूठ, व्यभिचार आदि कर्म स्वभाव से ही त्याज्य हो जाते हैं | इससे मनुष्य-जीवन सरल बन जाता है और सरलता में से शांति का जन्म होता है |

इस विचारसरणी का अनुसरण करते हुए मुझे ऐसा लगा है कि गीताजी की शिक्षा का आचरण करने वाले मनुष्य को स्वभाव से ही सत्य और अहिंसा का पालन करना पड़ता है | फलासक्ति के अभाव में न तो मनुष्य को झूठ बोलने का लालच होता है, और न हिंसा करने का लालच होता है | हिंसा या असत्य के किसी भी कार्य का हम विचार करें, तो पता चलेगा कि उसके पीछे परिणामलक्षी इच्छा रहती ही है |

लेकिन अहिंसा का प्रतिपादन करना गीता का विषय नहीं है, क्योंकि गीता के समय से पहले भी अहिंसा परम-धर्म मानी जाती थी | गीता को तो अनासक्ति का सिद्धांत प्रतिपादित करना है | गीता के दूसरे अध्याय में ही यह बात स्पष्ट हो जाती है |

परन्तु यदि गीता को अहिंसा स्वीकार्य थी अथवा अनासक्ति में अहिंसा सहज रूप से आ ही जाती हो, तो गीताकार ने भौतिक युद्ध को उदाहरण के रूप में भी क्यों लिया? इसका उत्तर यह है कि गीतायुग में अहिंसा धर्म मानी जाती थी, फिर भी उस काल में भौतिक युद्ध सर्व-सामान्य वस्तु था; इसलिए गीताकार को ऐसे युद्ध का उदाहरण लेने में कोई संकोच नहीं हुआ, नहीं हो सकता था |

परन्तु फलत्याग के महत्व का अंदाज लगाते समय गीताकार के मन में क्या विचार थे, उसने अहिंसा की मर्यादा कहाँ बाँधी थी, इसका विचार करने की हमें ज़रूरत नहीं रह जाती | कवि महत्त्वपूर्ण सिद्धांत दुनिया के सामने रखता है; इसलिए वह अपने दिए हुए सिद्धांतों का महत्त्व सदा पूरी तरह जानता ही है, अथवा जानने के बाद उसे पूर्णतया भाषा में प्रकट कर सकता है, ऐसा नहीं होता | इसीमें काव्य की और कवि की महिमा है | कवि के अर्थ का तो कोई अन्त ही नहीं है |

जिस प्रकार मनुष्य का विकास होता रहता है, उसी प्रकार महावाक्यों के अर्थ का भी विकास होता ही रहता है | भाषाओं के इतिहास की जॉच करें तो हम देखते हैं कि अनेक महान शब्दों के अर्थ सदा बदलते या विस्तृत होते रहे हैं | यही बात गीता के अर्थ के विषय में भी सच है | गीताकार ने स्वयं महान रूढ़ शब्दों के अर्थों का विस्तार किया है | गीता की ऊपर-ऊपर से जाँच करने पर भी हम यह देख सकते हैं |

गीतायुग से पहले यज्ञ में पशुओं की हिंसा शायद मान्य समझी जाती होगी | परन्तु गीता के यज्ञ में उसकी गंध तक नहीं आती | गीता में तो जपयज्ञ को सब यज्ञों का राजा कहा गया है | गीता का तीसरा अध्याय कहता है कि यज्ञ का अर्थ है मुख्यतः परोपकार के लिए शरीर का उपयोग | तीसरे और चौथे अध्याय को एकसाथ पढ़ने से यज्ञ की दूसरी व्याख्याएँ भी निकाली जा सकती हैं | परन्तु पशुहिंसा का अर्थ कभी नहीं निकाला जा सकता |

गीता के संन्यास शब्द के अर्थ के विषय में भी यही बात है | कर्ममात्र का त्याग गीता के संन्यास को सह्य ही नहीं है | गीता का संन्यासी अति-कर्मी है, और फिर भी अति-अ-कर्मी है | इस प्रकार गीताकार ने महान शब्दों के व्यापक अर्थ करके स्वयं उनकी अपनी भाषा का भी व्यापक अर्थ करने की बात हमें सिखाई है | कर्म के फल का संपूर्ण त्याग करने वाले मनुष्य के द्वारा भौतिक युद्ध हो सकता है, ऐसा अर्थ गीताकार की भाषा के अक्षरों-शब्दों से भले ही निकलता हो; परन्तु गीता की शिक्षा को पूर्ण रूप से व्यवहार में लाने का लगभग ४० वर्ष तक सतत प्रयत्न करते करते मुझे तो नम्रभाव से ऐसा लगा है कि सत्य और अहिंसा के संपूर्ण पालन के बिना कर्म के फल का संपूर्ण त्याग मनुष्य के लिए असंभव है |

गीता कोई सूत्रग्रंथ नहीं है | गीता एक महान धर्मकाव्य है | हम उसमें जितने गहरे उतरेंगे उतने ही उसमें से नए और सुंदर अर्थ हमें मिलेंगे | गीता जनसमाज के लिए है, इसलिए उसमें एक ही बात को अनेक प्रकार से कहा गया है | गीता में आये हुए महान शब्दों के अर्थ प्रत्येक युग में बदलेंगे और व्यापक बनेंगे | परन्तु गीता का मूल मंत्र कभी नहीं बदलेगा | यह मंत्र जिस रीती से जीवन में साधा जा सके उस रीति को दृष्टि में रखकर जिज्ञासु गीता के महाशब्दों का मनचाहा अर्थ कर सकता है |

गीता विधि-निषेध (करने योग्य और न करने योग्य कर्म) बताने वाला संग्रह-ग्रंथ भी नहीं है | एक मनुष्य के लिए जो कर्म विहित (करने योग्य हो, वह दूसरे के लिए निषिद्ध (न करने योग्य) हो सकता है | एक काल या एक देश में जो कर्म विहित हो, वह दूसरे काल या दूसरे देश में निषिद्ध हो सकता है | अतः निषिद्ध केवल फलासक्ति है; और विहित अनासक्ति है |

गीता में ज्ञान की महिमा गाई गई है | फिर भी गीता बुद्धिगम्य नहीं है, वह हृदय-गम्य है | इसलिए वह अश्रद्धालु मनुष्य के लिए नहीं है गीताकार ने स्वयं ही कहा है:

> "जो मनुष्य तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो सुनने की इच्छा नहीं रखता और जो मुझसे द्वेष करता है, उससे तू यह (ज्ञान) कभी न कहना | परन्तु जो मनुष्य यह परम गुह्य

ज्ञान मेरे भक्तों को देगा, वह मेरी परम भक्ति करने के कारण बिना किसी संदेह के मुझे प्राप्त करेगा | इसके सिवा, जो मनुष्य द्वेष-रहित होकर श्रद्धा के साथ इस ज्ञान को केवल सुनेगा, वह भी मुक्त होकर जहाँ पुण्यवान लोग बसते हैं उस शुभलोक को प्राप्त करेगा |"

कौसानी (हिमालय) मो.क.गांधी

सोमवार, जेष्ठ वदी २, १९८५, (ता. २४-६-'२९)

अनुक्रमणिका

अधिकृत आवृत्ति	द. बा. काका कालेलकर
प्रस्तावना	मो. क. गांधीजी

१. अर्जुन-विषाद-योग
२. सांख्ययोग
३. कर्मयोग
४. ज्ञान-कर्म-सन्यास-योग
५. कर्म-सन्यास-योग
६. ध्यानयोग
७. ज्ञान-विज्ञान-योग
८. अक्षर-ब्रह्मयोग
९. राजविद्या-राजगुह्य-योग
१०. विभूति-योग
११. विश्वरूप-दर्शन-योग
१२. भक्तियोग
१३. क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग-योग
१४. गुणत्रय-विभाग-योग
१५. पुरुषोत्तम-योग
१६. दैवासुर-संपद्-विभाग-योग
१७. श्रद्धात्रय-विभाग-योग
१८. संन्यास-योग

१.

अर्जुन-विषाद-योग

अच्छा क्या है और बुरा क्या है, यह जानने की इच्छा तक जिसके मन में नहीं होती, उसके सामने धर्म की बातों का क्या मूल्य है? धर्म-जिज्ञासा के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता | दुःख के बिना सुख नहीं मीलता | सभी जिज्ञासुओं को एक बार धर्म-वेदना, धर्म-संकट, हृदय-मंथन होता ही है |

धृतराष्ट्र बोले:

हे संजय! मुझसे कहो कि धर्मक्षेत्र-रूप कुरुक्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा से एकत्र हुए मेरे और पांडु के पुत्रों ने क्या किया? १.

टिप्पणी: कुरुक्षेत्र का युद्ध निमित्त मात्र है | अथवा सच्चा कुरुक्षेत्र हमारा शरीर है | उसकी उत्पत्ति पाप से है और पाप का भाजन बनकर वह रहता है | इसलिए वह कुरुक्षेत्र है |

वह कुरुक्षेत्र है और धर्मक्षेत्र भी है, क्योंकि वह मोक्ष का द्वार बन सकता है |

यदि हम शरीर को ईश्वर का निवास-स्थान मानें और बनाएँ, तो वह धर्मक्षेत्र है | उस क्षेत्र में प्रतिदिन कोई न कोई युद्ध हमारे सामने होता रहता है |

कौरव अर्थात् आसुरी वृत्तियाँ | पांडुपुत्र अर्थात् दैवी वृत्तियाँ | प्रत्येक शरीर में भली और बुरी वृत्तियों के बीच युद्ध चलता ही रहता है, ऐसा कौन मनुष्य अनुभव नहीं करता? और ऐसे अधिकतर युद्ध तो 'यह मेरा' 'यह तेरा' के कारण होते हैं | स्वजन-परजन के भेद से ऐसे युद्ध होते हैं |

संजय बोले:

उस समय पांडवों की सेना को व्यूहबद्ध देखकर राजा दुर्योधन आचार्य द्रोण के पास जाकर कर बोले: २.

[दुर्योधन बोले:]

हे आचार्य! आपके बुद्धिमान शिष्य द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहबद्ध की हुई पांडवों की इस विशाल सेना को देखिए | ३.

यहाँ भीम और अर्जुन के समान लड़ने में शूर-वीर महाधनुर्धारी, युयुधान (सात्यकि), विराट, महारथी द्रुपद राजा, धृष्टकेतु, चेकितान, तेजस्वी काशिराज, पुरुजित् कुंतिभोज और मानवों में श्रेष्ठ शैब्य तथा पराक्रमी युधामन्यु, बलवान उत्तमौजा, सुभद्रा-पुत्र (अभिमन्यु) और द्रौपदी के पुत्र (दिखाई देते) हैं | वे सभी महारथी हैं | ४-५-६.

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! अब हमारे जो मुख्य योद्धा हैं उन्हें आप जान लें | मेरी सेना के (इन) नायकों के नाम आपके ध्यान में आ जाएँ इसलिए मैं आपको बता देता हूँ | ७.

एक तो आप हैं | [फिर] भीष्म, कर्ण, युद्ध में जय प्राप्त करने वाले कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा हैं | इनके अतिरिक्त, दूसरे भी अनेक शूर-वीर योद्धा मेरे लिए प्राण अर्पण करने की तैयारी से खड़े हैं | वे सब विविध प्रकार के शस्त्रचलाने वाले और युद्ध की कला में कुशल हैं | ८-९.

[फिर भी] भीष्म द्वारा रक्षित हमारी सेना का बल अपूर्ण है, जब कि भीम से रक्षित पांडवों की सेना पूर्ण है | १०.

इसलिए आप सब अपने-अपने स्थान से सब मार्गों पर भीष्म पितामह की ही रक्षा भलीभाँती करें| ११.

[इस प्रकार दुर्योधन ने कहा, परन्तु द्रोणाचार्य ने उत्तर में कुछ भी नहीं कहा |]

[संजय कहते हैं:]

इतने में दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए कुरुओं के वृद्ध पुरुष प्रतापी भीष्म पितामह ने ऊँचे स्वर से सिंहनाद करके अपना शंख बजाया | १२.

उसके बाद शंख, नगाड़े, ढोल, मृदंग और रणसिंघे सब एकसाथ बज उठे | वह आवाज़ अत्यन्त भयानक थी | १३.

ऐसे समय सफेद घोड़ों वाले बड़े रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अपने दिव्य शँख बजाए | १४.

श्रीकृष्ण ने पांचजन्य शंख बजाया | धनंजय-अर्जुनने देवदत्त शंख बजाया भयानक कर्म करने वाले भीमने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया | १५.

कुंतीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अपना अनंतविजय नामक शंख बजाया और नकुल ने सुघोष तथा सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शंण्ख बजाए | १६.

इसी प्रकार, बड़े धनुष वाले काशिराज, महारथी शिखंडी, धृष्टद्युम्न, राजा विराट, अपराजित सात्यकि, द्रुपद-राज, द्रौपदी के पुत्र, सुभद्रा-पुत्र महाबाहु अभिमन्यु-इन सबने, हे राजन्, अपने अलग-अलग शंख बजाए | १७-१८.

पृथ्वी और आकाश को गूँजा देने वाले इस भयंकर नाद ने कौरवों के हृदय मानो चीर डाले | १९.

अब, है राजन्! जिसकी ध्वजा पर हनुमान हैं ऐसे अर्जुन ने कौरवों को व्यूहबद्ध देखकर, हथियार चलने की तैयारी के समय, अपना धनुष चढ़ा कर हृषिकेश से ये वचन कहे: २०.

अर्जुन बोले:

'हे अच्युत! मेरे रथ को (जरा) दो सेनाओं के बीच ले जाकर खड़ा कर दीजिए; जिससे युद्ध की कामना से खड़े हुए लोगों को मैं देखूँ और जानूँ कि इस रण-संग्राम में मुझे किस किस के साथ लड़ना है | दुष्ट बुद्धि वाले दुर्योधन का युद्ध में प्रिय कार्य करने की इच्छा वाले जो योद्धा यहाँ एकत्र हुए हैं, उन्हें मैं देखूँ तो सही |' २१-२२-२३.

संजय बोले:

हे राजन्! जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण से ऐसा कहा तब उन्होंने दोनों सेनाओं के बीच, सारे राजाओं तथा भीष्म और द्रोण के सामने वह उत्तम रथ खड़ा करके कहा:

'हे पार्थ! एकत्र हुए इन कौरवों को तू देख |' २४-२५

२

वहाँ दोनों सेनाओं में स्थित गुरुजनों, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, श्वसुरों तथा स्नेहीजनों आदि को अर्जुन ने देखा | उन सब बँधु-बान्धवों को इस प्रकार आमने-सामने खड़े देखकर खेद उत्पन्न होने से दीन बने हुए कुंतीपुत्र अर्जुन इस प्रकार बोले: २६-२७-२८

अर्जुन बोले:

हे कृष्ण! लड़ने के लिए उत्सुक एकत्र हुए इन सगे-संबंधियों को देखकर मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं | मेरा मुँह सूख रहा है, शरीर में कँपकँपी छूट रही है और मेरे रोंगटे खड़े हो रहे हैं | मेरे हाथ से गाँडीव फिसल रहा है | मेरी त्वचा बहुत जल रही है | मुझसे खड़ा नहीं रहा जाता, क्योंकि मेरा मस्तिष्क घूमता-सा मालूम हो रहा है | २८-२९-३०

इसके अतिरिक्त, हे केशव! मैं यहाँ विपरीत और अशुभ चिह्न देखता हूँ | युद्ध में इन स्वजनों को मारने में मैं कोई कल्याण नहीं देखता | ३१.

हे कृष्ण! उन्हें मार कर न तो मैं विजय चाहता हूँ, और न राज्य अथवा विविध प्रकार के सुख चाहता हूँ; हे गोविंद! हमारे लिए राज्य का, भोगों का या जीवन का भी क्या उपयोग है? ३२.

जिन के लिए हमने राज्य, भोग और सुख की इच्छा की, वे आचार्य, गुरुजन, पुत्र, पौत्र, दादा, मामा, ससुर, साले और दूसरे सम्बन्धी-जन तो प्राणों की और धन-दौलत की परवाह न करके लड़ने के लिए यहाँ खड़े हैं | ३३-३४

भले ही वे मुझे मार डालें, परन्तु तीनों लोकों के राज्य के लिए भी, है मधुसूदन! मैं उनकी हत्या नहीं करना चाहता; तब इस भूमी के लिए तो मैं उनकी हत्या कर ही कैसे सकता हूँ? ३५.

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या आनंद हो सकता है? इन आततायियों को भी मारने से हमें पाप ही लगेगा | ३६.

इसलिए, हे माधव! हमारे अपने ही बाँधव इन धृतराष्ट्र के पुत्रों को हम मारें, यह उचित नहीं है | अपने स्वजनों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे? ३७.

लोभ से चित्त के मलिन हो जाने के कारण वे कुलनाश से होने वाले दोष को और मित्रद्रोह के पाप को भले न देख सकें, परन्तु हे जनार्दन! कुलनाश से होने वाले दोष को समझने वाले हम लोगों को इस पाप से बचने की बात कैसे न सूझेगी? ३८-३९.

कुल का नाश हुआ कि परंपरा से चलते आ रहे कुलधर्मों का नाश हो जाता है; और धर्म का नाश हुआ कि अधर्म सारे कुल को डुबा देता है | ४०.

हे कृष्ण! अधर्म की वृद्धि होने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं | और उनके दूषित होने से वर्णों का संकर हो जाता है | ४१.

ऐसा संकर कुल के घातक को तथा उसके कुल को नरक में पहुँचाता है और पिंडोदक की क्रिया से वंचित रहने के कारण उसके पितरों की भी अधोगति होती है | ४२.

कुल-घातक लोगों के इन वर्ण-संकर को उत्पन्न करने वाले दोषों से सनातन कुलधर्मों का तथा जातिधर्मों का नाश होता है | ४३.

हे जनार्दन! जिन के कुलधर्मों का जड़मूल से नाश हुआ है, ऐसे मनुष्यों का अवश्य ही नरक में वास होता है-यह तुम सुनते आये हैं | ४४.

अरे, अरे! हम कैसा महापाप करने को उद्यत हुए हैं; राज्य के सुख के लोभ से हम अपने स्वजनों को मारने के लिए तत्पर हो गए हैं! ४५.

शस्त्रों से हीन तथा प्रतिकार न करने वाले मुझे धृतराष्ट्र के शस्त्रधारी पुत्र रण में यदि मार डालें, तो वह मेरे लिए अधिक कल्याणकारी होगा | ४६.

संजय बोले:

शोक से व्याकुल-चित्त बने हुए अर्जुन रणक्षेत्र में इस प्रकार बोलकर तथा धनुष-बाण को त्याग कर रथ की बैठक पर बैठ गए |

ॐ तत्सत्

जो ब्रह्मविद्या भी है और योगशास्त्र भी है ऐसे इस

श्री भगवान द्वारा गाये गये उपनिषद् में आए हुए श्रीकृष्ण

तथा अर्जुन के संवाद का 'अर्जुन-विषाद-योग' नामक

पहला अध्याय यहाँ समाप्त होता है |

२.

सांख्ययोग

मनुष्य मोह के वश होकर अधर्म को धर्म मानता है | अर्जुन ने मोह के कारण अपनों और परायों का भेद किया | यह भेद झूठा है, ऐसा समझाते हुए श्रीकृष्ण पहले देह और आत्मा की भिन्नता बताते हैं, देह की अनित्यता तथा पृथकता बताते हैं और आत्मा की नित्यता तथा उसकी एकता बताते हैं |

फिर श्रीकृष्ण समझाते हैं कि मनुष्य केवल पुरुषार्थ का, प्रयत्न का अधिकारी है, परिणामों का नहीं | इसलिए उसे अपने कर्तव्य को निश्चय करके निश्चिन्त रहना चाहिए और कर्तव्य-परायण बनना चाहिए | ऐसी परायणता से वह मोक्ष सिद्ध कर सकता है |

३

संजय बोले:

इस प्रकार करुणा[१] से घिरे हुए तथा आँसुओं से भरे व्याकुल नेत्र वाले दुःखी अर्जुन से मधुसूदन ने ये वचन कहे: १.

श्री भगवान बोले:

हे अर्जुन! श्रेष्ठ परुषों के लिए अनुचित, स्वर्ग से विमुख रखने वाला और अपयश को देने वाला यह मोह ऐसे विषम क्षण में तुझे कहाँ से हो आया? २.

हे पार्थ! तू कायर मत बन | यह तुझे सोभा नहीं देता | हृदय की इस तुच्छ निर्बलता का त्याग करके, हे परंतप! तू उठ! ३.

अर्जुन बोले:

हे मधुसूदन! रणभूमि में भीष्म तथा द्रोण के विरुद्ध मैं बाणों से कैसे लड़ूँ? हे अरिसूदन! वे तो मेरे लिए पूजनीय हैं | ४.

महानुभाव गुरुजनों को न मारने के कारण यदि इस लोक में मुझे भिक्षा माँग कर अपना निर्वाह करना पड़े, तो वह भी अधिक अच्छा होगा; क्योंकि गुरुजनों को मारकर तो मुझे उनके रक्त से दूषित बने हुए अर्थ और कामरूपी भोग ही भोगने होंगे | ५.

मैं नहीं जानता कि इन दो बातों में से कौन-सी बात अच्छी मानी जाएँगी-युद्ध में हम उन्हें जीतें यह अच्छा होगा? जिन्हें मारकर हम जीने की भी इच्छा नहीं रखेंगे, वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं | ६.

दीनता के कारण मेरा मूल स्वभाव नष्ट हो गया है | कर्तव्य के विषय में मैं उलझन में पड़ गया हूँ | इसलिए जिसमें मेरा हित हो वही बात मुझे निश्चयपूर्वक बताने की मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ | मैं आपका शिष्य हूँ | आपकी शरण में आया हूँ | आप मुझे मार्ग बताइए | ७.

इस लोक में धन-धान्य से सम्पन्न निष्कंटक राज्य मिले और देवलोक में इन्द्रासन भी मिल जाएँ, तो भी इन्द्रियों को चूस लेने वाले मेरे इस शोक को मिटाने वाली कोई वस्तु मुझे मिलेगी ऐसा मैं नहीं मानता | ८.

संजय बोले:

हे राजन्! हृषीकेश गोविंद से इस प्रकार कहकर, शत्रुओं को संतप्त करने वाले के रूप में विख्यात गुडाकेश अर्जुन 'मैं नहीं लड़ूँगा' बोलकर चुप हो गए | ९.

हे भारत! दोनों सेनाओं के बीच इस प्रकार उदास होकर बैठ जाने वाले अर्जुन से मानो विनोद करते हुए हृषीकेश ने ये वचन कहे: १०.

४

श्री भगवान बोले:

शोक न करने योग्य वस्तु का तू शोक करता है और पंडितों जैसी बाते करता है; परन्तु पंडित जन तो मृत और जीवित लोगों के विषय में शोक नहीं करते | ११.

क्योंकि वास्तव में मैं, तू अथवा ये राजा-महाराजा किसी समय नहीं थे या आगे नहीं रहेंगे, ऐसी बात है ही नहीं | १२.

देहधारी को जैसे इस देह में कुमारावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था प्राप्त होती है, वैसे ही दूसरी देह की प्राप्ति भी होती है | इन सबके विषय में बुद्धिमान पुरुष व्याकुल नहीं होता | १३.

हे कौन्तेय! इन्द्रियों के विषयों के साथ होने वाले स्पर्श सरदी, गरमी, सुख और दुःख देने वाले होते हैं | वे अनित्य हैं, इसलिए आते हैं और चले जाते हैं | हे भारत! इन सबको तू सहन कर | १४.

हे पुरुषश्रेष्ठ! सुख और दुःख में समान रहने वाले जिस बुद्धिमान पुरुष को ये विषय व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष के योग्य बनता है | १५.

असत् का अस्तित्व नहीं होता और सत् का नाश नहीं होता | इन दोनों का निर्णय ज्ञानियों ने जान लिया है | १६.

जिससे यह सारा जगत व्याप्त है, उसे तू अविनाशी जान | इस अव्यय, शाश्वत तत्त्व का नाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है | १७.

नित्य रहनेवाले तथा मन और इन्द्रियों की समझ में न आने वाले इस अविनाशी देही (आत्मा) के ये शरीर नाशवान कहे गए हैं | इसलिए हे भारत, तू युद्ध कर | १८.

जो इसे (आत्मा को) मारने वाली मानते हैं तथा जो इसे मारी हुई मानते हैं, वे दोनों कुछ भी नहीं जानते | यह (आत्मा) न तो किसी को मारती है, न किसी से मारी जाती है | १९.

यह कभी जन्म नहीं लेती, अथवा कभी मरती नहीं | यह पहले थी और अब आगे नहीं होने वाली है, ऐसी बात भी नहीं है | इसलिए यह आत्मा अज हैं, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है | शरीर के मारे जाने से यह नहीं मारी जाती | २०.

हे पार्थ! जो पुरुष आत्मा को अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय मानता है, वह कैसे किसी को मरवा सकता है अथवा किसी को मार सकता है? २१.

मनुष्य जिस प्रकार पुराने कपड़ों को छोड़कर नए कपड़े धारण करता है, उसी प्रकार देहधारी जिव जीर्ण हो चुके शरीर को छोड़कर दूसरा नया शरीर प्राप्त करता है | २२.

इस (आत्मा) को शस्त्र छेदते नहीं, आग जलाती नहीं, पानी भिगोता नहीं और वायु सुखाती नहीं | २३.

इस आत्मा को छेदा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता, भिगोया नहीं जा सकता या सुखाया नहीं जा सकता | यह नित्य है, सर्वगत है, स्थिर है, अचल है और सनातन है | २४.

इसके सिवा, यह इन्द्रियों और मन के लिए अगम्य है, विकार-रहित कही गई है; अतः इस आत्मा को ऐसी जानकर तुझे इसके लिए शोक नहीं करना चाहिए | २५.

अथवा यदि तू इसे नित्य जन्म लेने वाली और नित्य मरने वाली माने, तो भी हे महाबाहो! तू इसके बारे में शोक करे यह उचित नहीं है | २६.

जन्मे हुए प्राणी के लिए मृत्यु और मरे हुए प्राणी के लिए जन्म अनिवार्य है | इसलिए जो अनिवार्य है उसका शोक करना तेरे लिए उचित नहीं | २७.

हे भारत! भूत मात्र की जन्म से पहले की और मृत्यु के बाद की स्थिति देखी नहीं जा सकती | वह अव्यक्त है; केवल बीच की स्थिति ही व्यक्त अर्थात् प्रकट होती है | इसमें चिंता के लिए गुंजाइश ही कहाँ है? २८.

टिप्पणी: यहाँ भूत का अर्थ है स्थावर और जंगम सारी सृष्टि |

कोई इसे (आत्मा को) आश्चर्य के रूप में देखते हैं, दूसरे आश्चर्य के रूप में इसका वर्णित करते हैं; और तीसरे आश्चर्य के रूप में इसे वर्णित सुनते हैं, और सुनने पर भी कोई इसे जानते नहीं | २९.

हे भारत! सबके शरीर में बसी हुई यह शरीरधारी आत्मा नित्य है और अवध्य है; इसलिए भूत मात्र के विषय में शोक करना तेरे लिए उचित नहीं है | ३०.

टिप्पणी: यहाँ तक श्रीकृष्ण ने बुद्धि-प्रयोग से आत्मा का नित्यत्व और देह का अनित्यत्व दिखा कर यह सुझाया कि यदि किसी स्थिति में देह का नाश करना उचित माना जाय, तो स्वजन और परजन का भेद करके कौरव हमारे स्वजन हैं इसलिए उन्हें कैसे मारा जाय यह विचार मोहजन्य है |

अब श्रीकृष्ण अर्जुन को क्षत्रिय का धर्म बताते हैं |

५

स्वधर्म का विचार करके भी तेरे लिए युद्ध से विमुख होना उचित नहीं, क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्म युद्ध से अधिक श्रेयस्कर दूसरा कुछ नहीं हो सकता | ३१.

हे पार्थ! इस प्रकार अपने-आप प्राप्त हुआ और मानो स्वर्ग का द्वार ही खोल देने वाला ऐसा युद्ध तो भाग्यशाली क्षत्रियों को ही प्राप्त होता है | ३२.

यदि तू धर्म से प्राप्त यह संग्राम नहीं करेगा, तो स्वधर्म और कीर्ति दोनों को खोकर पाप का भागी बनेगा | ३३.

सब लोग निरंतर तेरी निंदा किया करेंगे | और सम्मान-प्राप्त मनुष्य के लिए अपकीर्ति तो मृत्यु से भी बुरी है | ३४.

जिन महारथियों में तूने सम्मान प्राप्त किया है, वे तुझे भय के कारण रण से भागा हुआ मानेंगे और उनके बीच तेरी प्रतिष्ठा घट जाएँगी | ३५.

और तेरे शत्रु तेरे बल की निंदा करते-करते न बोलने जैसे अनेक वचन बोलेंगे; इससे अधिक कष्टकर और क्या हो सकता है? ३६.

यदि तू युद्ध में मारा गया, तो तुझे स्वर्ग प्राप्त होगा | यदि तू जीत गया, तो पृथ्वी का उपभोग करेगा | इसलिए हे कौन्तेय! लड़ने का निश्चय करके तू खड़ा हो जा | ३७.

टिप्पणी: भगवान ने पहले आत्मा का नित्यत्व और देह का अनित्यत्व अर्जुन को समझाया | उसके बाद यह भी बताया कि सहज प्राप्त युद्ध करने में क्षत्रिय के लिए धर्म की कोई बाधा नहीं

हो सकती | इसलिए ३१ वें श्लोक से भगवान श्रीकृष्ण ने परमार्थ के साथ उपयोगिता का [लाभ-हानि की व्यावहारिक दृष्टि का] मेल साधा है |

अब भगवान गीता के मुख्य बोध की झाँकी एक श्लोक में कराते हैं | सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और पराजय को समान समझ कर तू लड़ने के लिए तैयार हो जा | ऐसा करने से तुझे पाप नहीं लगेगा | ३८.

यह मैंने तुझे सांख्य-सिद्धांत (ज्ञाननिष्ठा) के अनुसार तेरा कर्तव्य समझाया |

६

अब मैं तुझे योगवाद के अनुसार समझाता हूँ | उसे तू सुन | इसका आश्रय लेने से तू कर्म के बन्धन तोड़ सकेगा |

३९.

इस निष्ठा से जो आरंभ होता है उसका नाश नहीं होता, इसमें विपरीत परिणाम भी नहीं आता | इस धर्म का अल्प-सा पालन भी मनुष्य को महाभय से उबार लेता है |

४०.

हे कुरुनन्दन! (योगवादी की) निश्चयात्मक बुद्धि एकरूप होती है, जब कि अनिश्चय वाले मनुष्य की बुद्धियाँ अर्थात् वासनाएँ अनेक शाखाओं वाली और अनंत होती हैं |

४१.

टिप्पणी: बुद्धि जब एक न रहकर अनेक (बुद्धियाँ) हो जाती हैं तब वह बुद्धि नहीं रहती, वह वासना का रूप ले लेती है | इसलिए बुद्धियों का अर्थ है वासनाएँ |

हे पार्थ! वेदों की शाब्दिक चर्चा में रत रहने वाले अज्ञानी, 'इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है' ऐसा कहनेवाले, कामना वाले तथा स्वर्ग को ही श्रेष्ठ मानने वाले लोग जन्म-मरण रूपी कर्म के

फल देने वाली तथा भोग और ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए किए जाने वाले (विविध) कर्मों के वर्णन से भरी हुई वाणी बढ़ा-चढ़ा कर बोलते हैं; भोग और ऐश्वर्य में आसक्त बने हुए ऐसे लोगों की यह बुद्धि नष्ट हो जाती है | उनकी बुद्धि न तो निश्चय वाली होती और समाधि के विषय में स्थिर हो सकती |

४२-४३-४४.

टिप्पणी: ऊपर के तीन श्लोंको में योगवाद के विरुद्ध कर्मकांड का अर्थात् वेदवाद का वर्णन किया गया है | कर्मकांड अथवा वेदवाद का अर्थ है फल उत्पन्न करने के लिए प्रयत्न करने वाली असंख्य क्रियाएँ | ये क्रियाएँ वेदान्त से अर्थात् वेद के रहस्य से अलग और अल्प परिणाम वाली होने के कारण निरर्थक होती हैं |

हे अर्जुन! जो तीन गुण वेद के विषय हैं, उनसे तू अलिप्त रह | तू सुख-दुःख आदि द्वंन्द्वों से मुक्त हो जा | नित्य सत्य वस्तु में तू स्थित रह | तू कोई भी वस्तु प्राप्त करने और उसकी रक्षा करने की झंझट से मुक्त रह और आत्म-परायण बन | ४५.

जो हेतु कुएँ से पूरा होता है वही सब हर प्रकार से सरोवर से भी पूरा होता है; उसी प्रकार जो कुछ समस्त वेदों में है वही ज्ञानवान ब्रह्म-परायण मनुष्य को आत्मानुभव से प्राप्त हो जाता है | ४६.

कर्म के ऊपर तेरा अधिकार है, उससे उत्पन्न होने वाले अनेक फलों पर कभी नहीं | कर्म का फल तेरा हेतु नहीं बनना चाहिए | कर्म न करने के विषय में भी तेरा आग्रह नहीं रहना चाहिए | ४७.

हे धनंजय! तू आसक्ति को छोड़कर और योगस्थ रहकर अर्थात् सफलता और निष्फलता के विषय में समान भाव रखकर कर्म कर | समता को ही योग कहा जाता है | ४८.

हे धनंजय! समत्व-बुद्धि के साथ तुलना की जाय, तो केवल कर्म एक अत्यन्त तुच्छ वस्तु है | तू समत्वबुद्धि का आश्रय ले | फल की लालसा रखने वाले पामर मनुष्य दया के पात्र हैं | ४९.

बुद्धियुक्त अथवा समत्ववान पुरुष इसी लोक में पाप-पुण्य का स्पर्श नहीं होने देता | इसलिए तू समत्व साधने का प्रयत्न कर | समता ही कार्य-कुशलता है | ५०.

क्योंकि समत्व-बुद्धि वाले मुनिजन कर्म से उत्पन्न होने वाले फल का त्याग करके जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं और निष्कलंक मोक्षपद को प्राप्त करते हैं | ५१.

जब तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदल को पार कर लेगी तब मुझे सुने हुए के विषय में और सुनने के लिए जो बाकी होगा उसके विषय में उदासीनता प्राप्त हो जाएगी | ५२.

अनेक प्रकार के सिद्धान्तों को सुनकर व्यग्र बनी हुई तेरी बुद्धि जब समाधि में स्थिर होगी तभी तू समत्व अर्थात् योग को प्राप्त करेगा | ५३.

७

अर्जुन बोले:

हे केशव! स्थितप्रज्ञ अर्थात् समाधिस्थ पुरुष के क्या लक्षण होते हैं? स्थितप्रज्ञ किस प्रकार बोलता है, किस प्रकार बैठता है और किस प्रकार चलता है? ५४.

श्री भगवान बोले:

हे पार्थ! जब मनुष्य मन में उठने वाली समस्त कामनाओं का त्याग करता है और आत्मा में आत्मा द्वारा ही संतुष्ट रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है | ५५.

टिप्पणी: आत्मा में आत्मा द्वारा ही संतुष्ट रहने का अर्थ है आत्मा का आनंद भीतर से खोजना, सुख-दुःख देने वाली बाहर की वस्तुओं पर आनंद का आधार न रखना |

यह ध्यान में रखना चाहिए कि आनंद सुख से भिन्न वस्तु है | मुझे धन मिले और मैं उसमें सुख मानूँ, तो यह मेरा मोह है | मैं भिखारी होऊँ और मैं भूख की पीड़ा भोग रहा होऊँ तो भी यदि मैं चोरी के या दूसरे किसी प्रलोभन में न पड़ूँ, तो यह बात मुझे आनंद देती है; इसे आत्म-संतोष कहा जा सकता है |

दुःखों से जो दुःखी न हो, सुखों की जो इच्छा न रखे तथा जो राग, भय और क्रोध से रहित हो, वह मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है | ५६.

जो सर्वत्र राग-रहित है और शुभ के प्राप्त होने पर उसका स्वागत नहीं करता अथवा अशुभ को प्राप्त करके अकुलाता नहीं, उसकी बुद्धि स्थिर है | ५७.

जिस प्रकार कछुवा सब ओर से अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार यह पुरुष इन्द्रियों को उनके विषयों से जब समेट लेता-खींच लेता है, तब कहा जाता है कि उसकी बुद्धि स्थिर हो गई है | ५८.

देहधारी मनुष्य जब निराहार रहता है तब उसके विषय शिथिल अवश्य हो जाते हैं, परन्तु [विषयों के प्रति रहने वाला] उसका रस नहीं मिटता; वह रस तो परब्रह्म के दर्शन से, परमात्मा का साक्षात्कार होने से ही शान्त होता है | ५९.

टिप्पणी: यह श्लोक उपवासादि का निषेध नहीं करता, परन्तु उसकी मर्यादा सूचित करता है | विषयों को शान्त करने के लिए उपवासादि आवश्यक हैं, परन्तु विषयों की जड़ अर्थात् उनके विषय में रहने वाला रस तो केवल ईश्वर की झाँकी होने पर ही शान्त होता है | जिसे ईश्वर के साक्षात्कार का रस लग गया है, वह दूसरे रसों को भूल ही जाता है |

हे कौन्तेय! सयाना और बुद्धिमान पुरुष प्रयत्न करता हो, तो भी इन्द्रियाँ ऐसी अदम्य हैं कि वे उसके मन को बलात्कारपूर्वक हर लेती हैं | ६०.

इन समस्त इन्द्रियों को वश में रखकर योगी को मुझमें तन्मय होकर रहना चाहिए; क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ अपने वश में है उसीकी बुद्धि स्थिर रहती है | ६१.

टिप्पणी: इसका अर्थ यह है कि भक्ति के बिना और उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाली ईश्वर की सहायता के बिना पुरुष का प्रयत्न व्यर्थ है |

विषयों का चिंतन करने वाले पुरुष के मन में विषयों के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है | आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है और कामना से क्रोध उत्पन्न होता है | ६२.

टिप्पणी: कामना वाले पुरुष में क्रोध का होना अनिवार्य है, क्योंकि काम कभी तृप्त होता ही नहीं |

क्रोध से मूढ़ता उत्पन्न होती है, मूढ़ता से स्मृति नष्ट हो जाती है और स्मृति के नष्ट हो जाने से ज्ञान का नाश होता है | और जिस पुरुष के ज्ञान का नाश होता है, वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है | (उसकी सब प्रकार से अधोगति होती है |) ६३.

परन्तु जिस का मन अपने वश में होता है और जो रागद्वेष-रहित तथा अपने वश में रहने वाली इन्द्रियों के द्वारा (उचित) विषयों को ग्रहण करता है, वह पुरुष चित्त की प्रसन्नता प्राप्त करता है | ६४.

चित्त की प्रसन्नता से उसके सारे दुःख टल जाते हैं और प्रसन्नता प्राप्त किए हुए पुरुष की बुद्धि तुरन्त ही स्थिर हो जाती है | ६५.

जिसमें समत्व नहीं है, उसमें विवेक नहीं होता, भक्ति नहीं होती | और जिसमें भक्ति नहीं होती, उसे शांति नहीं मिलती | अब जिसे शांति नहीं है, उसे सुख तो हो ही कैसे सकता है? ६६.

विषयों में भटकने वाली इन्द्रियों के पीछे जिसका मन दौड़ता है, ऐसे पुरुष का वह मन-वायु जिस प्रकार नाव को पानी में कहीं भी खींचकर ले जाती है उसी प्रकार-उसकी बुद्धि को चाहे जहाँ खींचकर ले जाता है | ६७.

इसलिए हे महाबाहो! जिसकी इन्द्रियाँ सब ओर के विषयों से बाहर निकलकर उसके वश में हो जाती हैं, उस पुरुष की बुद्धि स्थिर हो जाती है | ६८.

जिस समय सब प्राणी सोये होते हैं, उस समय संयमी पुरुष जागता है | और जिस समय सब लोग जागते हैं, उस समय ज्ञानवान मुनि सोता है | ६९.

टिप्पणी: भोगी मनुष्य रात के बारह-एक बजे तक नाच-गान, राग-रंग, खान-पान आदि में अपना समय बिताते हैं और फिर सवेरे सात-आठ बजे तक सोते रहते हैं | संयमी मनुष्य रात में सात-आठ बजे सो जाते हैं और मध्यरात्रि में उठकर ईश्वर का ध्यान करते हैं |

इसके सिवा, भोगी मनुष्य संसार का प्रपंच बढ़ाता है और ईश्वर को भूल जाता है, जब कि संयमी मनुष्य संसार के प्रपंच से अनजान रहता है और ईश्वर का साक्षात्कार करता है, इस तरह भोगी और संयमी दोनों के मार्ग अलग-अलग होते हैं, ऐसा भगवान ने इस श्लोक में सूचित किया है |

सब ओर से निरंतर पानी भरते रहने पर भी जिसकी मर्यादा अचल रहती है ऐसे समुद्र में जिस प्रकार सारा पानी आकर समा जाता है, उसी प्रकार जिस मनुष्य में सांसारिक भोग शान्त हो जाते हैं वही शान्ति प्राप्त करता है, कामना वाला मनुष्य नहीं | ७०.

सारी कामनाओं का त्याग करके जो पुरुष इच्छा, ममता और अहंकार से रहित होकर इस संसार में रहता है, वही शांति प्राप्त करता है | ७१.

हे पार्थ! ईश्वर को पहचानने वाले पुरुष की ऐसी स्थिति होती है | इस स्थिति को प्राप्त करने के बाद वह मोह के वश नहीं होता; और मृत्यु के समय भी ऐसी स्थिति बनी रहे, तो वह ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त करता है | ७२.

ॐ तत्सत्

जो ब्रह्मविद्या भी है और योगशास्त्र भी है ऐसे इस

श्री भगवान द्वारा गाये गये उपनिषद् में आये हुए

श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के संवाद का 'सांख्ययोग' नामक

दूसरा अध्याय वहाँ समाप्त होता है |

१ करुणा=शिथिलता, कायरता, ग्लानी |

३.

कर्मयोग

यह अध्याय गीता का स्वरूप जानने की कुँजी है, ऐसा कहा जा सकता है | इसमें यह बात स्पष्ट की गई है कि कर्म कैसे किया जाएँ और कौन-सा कर्म किया जाएँ तथा सच्चा कर्म किसे कहा जाए | इसमें यह भी बताया गया है कि सच्चे ज्ञान का परिणाम पारमार्थिक कर्मों के रूप में आना ही चाहिए |

८

अर्जुन बोले:

हे जनार्दन! यदि आप कर्म से बुद्धि का स्थान अधिक ऊँचा मानते हैं, तो हे केशव! आप मुझे घोर कर्म करने की प्रेरणा क्यों देते हैं? १.

टिप्पणी: यहाँ बुद्धि का अर्थ है समत्व-बुद्धि |

अपने मिश्र वचन से आप मेरी बुद्धि को मानो शंकाशील बना रहे हैं | इसलिए आप मुझे एक ही बात निश्चयपूर्वक कहिए, जिससे मेरा कल्याण हो | २.

टिप्पणी: अर्जुन उलझन में पड़ जाते हैं; क्योंकि एक ओर भगवान शिथिल हो जाने के लिए उन्हें उलाहना देते हैं और दूसरी ओर दूसरे अध्याय के ४९-५० श्लोकों में कर्मत्याग के उपदेश का आभास होता है |

गहरा विचार किया जाए तो यह बात नहीं है, ऐसा भगवान आगे बताएँगे |

श्री भगवान बोले:

हे पापरहित अर्जुन! मैं पहले कह चुका हूँ कि इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा होती है: एक, ज्ञानयोग द्वारा सांख्यों की; दूसरी, कर्मयोग द्वारा योगियों की | ३.

कर्म का [केवल] आरंभ न करने से ही मनुष्य नैष्कर्म्य का अनुभव नहीं करता और कर्म के केवल बाह्य त्याग से वह सिद्धि अर्थात् मोक्ष प्राप्त नहीं करता | ४.

टिप्पणी: नैष्कर्म्य का अर्थ है मन से, वाणी से और शरीर से कर्म न करने का भाव | परन्तु ऐसी निष्कर्मता का अनुभव कोई पुरुष कर्म न करके प्राप्त नहीं कर सकता | तब निष्कर्मता का अनुभव कैसे प्राप्त हो सकता है, इसका विचार अब करना है |

वस्तुतः कोई मनुष्य कर्म किए बिना एक क्षण के लिए भी नहीं रह सकता | प्रकृति से उत्पन्न हुए गुण ही परवश होकर रहने वाले प्रत्येक मनुष्य से कर्म कराते हैं | ५.

जो मनुष्य कर्म करने वाली इन्द्रियों को रोकता है, परन्तु उन इन्द्रियों के विषयों का मन से चिंतन करता है, वह मूढ़ात्मा मिथ्याचारी कहलाता है | ६.

टिप्पणी: उदाहरण के लिए, जो मनुष्य वाणी को रोकता है, परन्तु मन में किसी को गाली देता है, वह निष्कर्म नहीं किन्तु मिथ्याचारी है |

इसका अर्थ यह नहीं है कि जब तक मन को न रोका जा सके तब तक शरीर को रोकना निरर्थक है | शरीर को रोके बिना मन पर अंकुश प्राप्त होता ही नहीं | परन्तु शरीर के अंकुश के साथ मन पर अंकुश रखने का प्रयत्न होना ही चाहिए |

जो मनुष्य भय, लज्जा अथवा ऐसे ही दूसरे बाहरी कारणों से शरीर को रोकते हैं, परन्तु मन को नहीं मोड़ते-इतना ही नहीं, मन से तो विषयों का भोग करते हैं और मौका मिल जाने पर शरीर से भी विषयों का भोग करते हैं, ऐसे मिथ्याचारियों की यहाँ निंदा की गई है |

इसके आगे का श्लोक इससे उलटा भाव बताता है |

परन्तु हे अर्जुन! जो मनुष्य मन से इन्द्रियों को नियमन में रखता है तथा संग-रहित होकर कर्म करने वाली इन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आरंभ करता है वह श्रेष्ठ पुरुष है | ७.

टिप्पणी: इसमें बाहर और भीतर का मेल साधा गया है | मन को अंकुश में रखते हुए भी मनुष्य शरीर के द्वारा अर्थात् कर्मेन्द्रियों के द्वारा कोई न कोई काम तो करेगा ही | परन्तु जिसका मन अंकुश में है उसके कान दूषित बातें सुनने के बजाय ईश्वर का भजन सुनेंगे, सत्पुरुषों के गुणों की प्रशंसा सुनेंगे | जिसका मन अपने वश में है वह मनुष्य जिन्हें हम विषयों के नाम से पहचानते हैं उनमें रस नहीं लेगा | ऐसा मनुष्य आत्मा को शोभा देने वाले कर्म ही करेगा | ऐसे कर्म करना कर्ममार्ग है | जिसके द्वारा आत्मा का शरीर के बन्धन से छूटने का योग सधे वह कर्मयोग है | इसमें विषयासक्ति को कोई स्थान हो ही नहीं सकता |

इसलिए तू अपना नियत कर्म कर | कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना अधिक अच्छा है | कर्म के बिना तेरे शरीर का व्यापार भी नहीं चल सकता | ८.

टिप्पणी: 'नियत' शब्द मूल श्लोक में आया है | उसका सम्बन्ध अगले श्लोक के साथ है | उसमें मन के द्वारा इन्द्रियों को नियमन में रखते हुए संग-रहित होकर कर्म करनेवाले मनुष्य की स्तुति की गई है | इसलिए यहाँ नियत कर्म की अर्थात् इन्द्रियों को नियमन में रखकर किए जानेवाले कर्म की सिफारिश की गई है |

९

यज्ञार्थ किए जाने वाले कर्मों के सिवा अन्य कर्मों से इस लोक में बन्धन उत्पन्न होता है | इसलिए हे कौन्तेय! तू राग-रहित होकर यज्ञार्थ कर्म कर |

९.

टिप्पणी: यज्ञ का अर्थ है परोपकार के लिए, लोककल्याण के लिए, ईश्वर-प्रीत्यर्थ किए गए कर्म|

प्रजा को यज्ञ-सहित उत्पन्न करके प्रजापति ब्रह्मा बोले: "इस यज्ञ के द्वारा तुम वृद्धि को प्राप्त करो | यह तुम्हें इच्छित फल दे | तुम यज्ञ के द्वारा देवों का पोषण करो और वे देव तुम्हारा पोषण करें | इस प्रकार एक-दूसरे का पोषण करके तुम परम कल्याण को प्राप्त करो | यज्ञ द्वारा संतुष्ट हुए देव तुम्हें इच्छित भोग देंगे | जो मनुष्य उनके दिए हुए भोगों का, बदला चुकाए बिना, उपभोग करता है, वह निश्चित रूप से चोर है |" १०-११-१२.

टिप्पणी: यहाँ देव का अर्थ है भूत मात्र, ईश्वर की सृष्टि | भूत मात्र की सेवा देवसेवा है और वही यज्ञ है |

जो मनुष्य यज्ञ का बचा हुआ भाग खाते हैं, वे सारे पापों से मुक्त होते हैं | जो मनुष्य केवल अपने ही लिए भोजन बनाते हैं वे पाप खाते हैं | १३.

अन्न से भूत मात्र उत्पन्न होते हैं | अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है | वर्षा यज्ञ से होती है | और यज्ञ कर्म से होता है | तू यह जान कि कर्म प्रकृति से उत्पन्न होता है, प्रकृति अक्षर-ब्रह्म से उत्पन्न होती है और इसलिए सर्व-व्यापक ब्रह्म सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित रहता है | १४-१५.

इस प्रकार चलाए हुए चक्र का जो मनुष्य अनुसरण नहीं करता, वह अपने जीवन को पापपूर्ण बनाता है, इन्द्रिय-सुखों में रचा-पचा रहता है और हे पार्थ! वह व्यर्थ ही जीता है | १६.

परन्तु जो मनुष्य आत्मा में मग्न रहने वाला है, जो आत्मा से ही तृप्त रहता है और आत्मा में ही संतोष मानता है, उसके लिए कुछ करना जरूरी नहीं रहता | १७.

कर्म करने या न करने में उसका बिलकुल स्वार्थ नहीं होता | भूत मात्र के विषय में उसका कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होता | १८.

इसलिए तू तो संग-रहित होकर निरंतर करने योग्य कर्म करता रह | संग-रहित होकर कर्म करने वाला पुरुष मोक्ष को प्राप्त करता है | १९.

जनक जैसे अनेक लोग कर्म के द्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं |

१०

लोक-संग्रह का विचार करके भी तुझे कर्म करना चाहिए | २०.

(क्योंकि) उत्तम पुरुष जो –जो आचरण करते हैं, उसका अनुकरण सामान्य लोग करते हैं | जिस (आदर्श) को उत्तम पुरुष प्रमाण बनाते हैं, उसका सामान्य लोग अनुसरण करते हैं | २१.

हे पार्थ! मेरे लिए तीनों लोकों में कुछ भी करने जैसा नहीं है | ऐसा भी नहीं कि प्राप्त करने योग्य कोई वस्तु मुझे नहीं मिली हैं; तो भी मैं सदा कर्म में लगा ही रहता हूँ | २२.

टिप्पणी: सूर्य,चंद्र, पृथ्वी आदि की निरंतर तथा अचूक गति ईश्वर के कर्म सूचित करती है | ये कर्म मानसिक नहीं किन्तु शारीरिक माने जाएँगे |

यहाँ ऐसी शंका के लिए गुंजाइश नहीं है कि: 'ईश्वर निराकार होते हुए भी शारीरिक कर्म करता है, यह कैसे कहा जा सकता है?' क्योंकि वह अशरीरी होते हुए भी शरीरी के समान व्यवहार करता दिखाई देता है | इसीलिए वह कर्म करते हुए भी 'अकर्मकृत' और अलिप्त है |

मनुष्य को यह बात समझ लेनी चाहिए के जिस प्रकार ईश्वर की प्रत्येक कृति यंत्रवत् काम करती है, उसी प्रकार मनुष्य को भी बुद्धिपूर्वक किन्तु यंत्र के समान ही नियमित कार्य करने चाहिए | मनुष्य की विशेषता यंत्रगति का अनादर करके स्वच्छन्द बनने में नहीं, परन्तु ज्ञानपूर्वक उस गति का अनुकरण करने में हैं |

मनुष्य अलिप्त रहकर, संग-रहित होकर, यंत्रवत् कार्य करे, तो इससे उसका शरीर कभी क्षीण नहीं होता | वह मृत्यु-पर्यंत ताज़ा और स्फूर्ति वाला बना रहता है | शरीर शरीर के नियमों का अनुसरण करके उसका समय पूरा हो जाने पर नष्ट हो जाता है | परन्तु उसमें बसी हुई आत्मा जैसी थी वैसी ही बनी रहती है |

यदि मैं कभी अंगड़ाई लेने जितना भी रुके बिना निरंतर कर्म में प्रवृत्त न रहूँ, तो हे पार्थ! लोग हर तरह से मेरे इस उदाहरण का अनुसरण करेंगे | यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब लोक नष्ट हो जाएँ; मैं अव्यवस्था का कर्ता बनूँ और समग्र मानवजाति का नाश कर डालूँ | २३-२४.

हे भारत! जिस प्रकार अज्ञानी लोग आसक्त हो कर कर्म करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी को आसक्ति रहित होकर लोक-कल्याण की इच्छा से कर्म करना चाहिए | २५.

कर्म में आसक्त रहने वाले अज्ञानी मनुष्यों की बुद्धि को ज्ञानी पुरुष डांवाडोल-अस्थिर न करे, परन्तु समत्व कायम रखते हुए भलीभाँति कर्म करके ऐसे मनुष्यों को सब कर्म करने की प्रेरणा दे| २६.

[टिप्पणी: लोग उलटे मार्ग पर चलकर समाज का नाश न करें, इस हेतु से उनका मार्गदर्शन करके लोककल्याण साधना लोक-संग्रह है | -का.]

सब कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा ही किए जाते हैं | परन्तु अहंकार से मूढ़ बना हुआ मनुष्य 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान लेता है | इसके विपरीत, हे महाबाहो! गुण और कर्म के विभाग के रहस्य को जानने वाला पुरुष 'गुण गुणों पर काम करते हैं' इसे ध्यान में रखकर उनमें आसक्त नहीं होता | २७-२८.

[टिप्पणी: जिस प्रकार श्वासोच्छ्वास आदि क्रियाएँ अपने-आप होती हैं, उनमें मनुष्य आसक्त नहीं होता, और जब इन क्रियाओं के अवयवों को कोई व्याधि, कोई रोग होता है, तभी मनुष्य को उनकी चिंता करनी पड़ती है अथवा उसे अपने इन अवयवों के अस्तित्व का भान होता है; उसी प्रकार स्वाभाविक कर्म अपने आप हों तो उनके विषय में आसक्ति नहीं होती | जिसका स्वभाव उदार है, वह स्वयं जानता भी नहीं कि मैं उदार हूँ | वह दान किए बिना रह ही नहीं सकता | ऐसी अनासक्ति मनुष्य में अभ्यास से और ईश्वर-कृपा से ही आती है |

प्रकृति के गुणों से मोह में पड़े हुए मनुष्य गुणों के कार्यों में आसक्त रहते हैं | ज्ञानी पुरुषों को चाहिए कि वे इन अज्ञानी मंदबुद्धि लोगों को अस्थिर न बनायें | २९.

११

अध्यात्म-वृत्ति रखकर, सारे कर्म मुझे अर्पण करके, आसक्ति और ममत्व छोड़कर तथा राग-रहित होकर तू युद्ध कर | ३०.

टिप्पणी: जो मनुष्य देह में निवास करने वाली आत्मा को पहचानता है और वह आत्मा परमात्मा ही अंश है ऐसा जानता है, वह मनुष्य सब-कुछ परमात्मा को ही अर्पण करेगा-जिस प्रकार सेवक स्वामी के आश्रय में निभता है और सब-कुछ उसी को अर्पण करता है |

जो मनुष्य श्रद्धा रखकर और द्वेष को छोड़कर मेरे इस मत के अनुसार सदा आचरण करते हैं, वे भी कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं | ३१.

परन्तु जो मनुष्य मेरे इस मत में दोष निकाल कर इसका अनुसरण नहीं करते, वे ज्ञानहीन मूर्ख हैं | उनका नाश हो गया है, ऐसा ही तू समझ | ३२.

[यह बात सच है कि] ज्ञानी पुरुष भी अपने स्वभाव के अनुसार ही चलते हैं; प्राणीमात्र अपने स्वभाव का अनुसरण करते हैं | इसमें बलात्कार क्या कर सकता है? ३३.

टिप्पणी: यह श्लोक दूसरे अध्याय के ६१ से ६८ तक के श्लोकों का विरोधी नहीं है | इन्द्रियों का निग्रह करते-करते मनुष्य को मर मिटना है; परन्तु ऐसा करते हुए भी सफलता न मिले, तो निग्रह अर्थात् बलात्कार व्यर्थ है | इसमें निग्रह की निंदा सूचित नहीं की गई है; स्वभाव का साम्राज्य बताया गया है | 'यह तो मेरा स्वभाव है' ऐसा कहकर कोई गलत रास्ते जाए, तो मानना चाहिए कि वह इस श्लोक का अर्थ नहीं समझता |

अपने स्वभाव का हमें पता नहीं चलता | हरएक आदत हमारा स्वभाव नहीं है | और आत्मा का स्वभाव उर्ध्वगमन है | इसलिए आत्मा जब नीचे उतरे या गिरे तब उसका विरोध करना मनुष्य का कर्तव्य है | नीचे का श्लोक इसी बात को सपष्ट करता है |

अपने-अपने विषयों के बारे में इन्द्रियों के राग-द्वेष रहते ही हैं [यह बात ध्यान में रखकर] मनुष्य को उन राग-द्वेषों के वश नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे दोनों मनुष्य के मार्ग के शत्रु हैं | ३४

टिप्पणी: कान का विषय है सुनना | जो अच्छा लगे उसीको सुनना कान पसंद करता है-यह राग है; जिसे वह बुरा मानता है ऐसी बात सुनना उसे पसन्द नहीं होता-यह द्वेष है |

'यह तो स्वभाव है' ऐसा कहकर राग-द्वेष के वश होने के बजाय मनुष्य को उनका विरोध करना चाहिए |

आत्मा का स्वभाव सुख-दुःख से अछूता रहने का है | उस स्वभाव तक मनुष्य को पहुँचना है |

दूसरे का धर्म सुलभ हो, तो भी उससे अपना घटिया धर्म अधिक अच्छा है | स्वधर्म में मृत्यु भी अच्छी है; परधर्म भयानक है | ३५.

टिप्पणी: समाज में एक मनुष्य का धर्म झाड़ू लगाने का हो सकता है और दूसरे मनुष्य का धर्म हिसाब रखने का हो सकता है | हिसाब रखने वाला भले ही उत्तम माना जाता हो, लेकिन झाड़ू लगाने वाला यदि अपना धर्म छोड़ दे, तो वह भ्रष्ट हो जाएँगा और समाज को हानि पहुँचेगी |

ईश्वर के दरबार में इन दोनों की सेवा का मूल्य उनकी निष्ठा के अनुसार आँका जाएगा | किसी भी धन्धे की क़ीमत उसके दरबार में तो एक ही होती है | दोनों मनुष्य यदि ईश्वरार्पण बुद्धि से अपना कर्तव्य करें, तो दोनों मोक्ष के एक से अधिकारी बनते हैं |

१२

अर्जुन बोले:

हे वार्ष्णेय! मनुष्य न चाहने पर भी मानो बलात्कारपूर्वक पापकर्म में नियोजित हो इस प्रकार किस की प्रेरणा से पाप करता है? ३६.

श्री भगवान बोले:

यह (प्रेरक) काम है, क्रोध है, जो रजोगुण से उत्पन्न हुआ है; उसका पेट कभी भरता ही नहीं, वह महापापी है | उसे इस लोक में तू अपना शत्रु समझ | ३७.

टिप्पणी: हमारा सच्चा शत्रु अन्तर में रहने वाला काम या क्रोध ही है | जिस प्रकार धुएँ से आग अथवा मैल से दर्पण अथवा आँवल से गर्भ ढँका रहता है, उसी प्रकार काम-क्रोध रूपी शत्रु से यह ज्ञान ढंका रहता है | ३८.

हे कौन्तेय! तृप्त न की जा सके ऐसी यह कामरूपी अग्नि हमारी सदा की शत्रु है; उससे ज्ञानी का ज्ञान ढंका हुआ रहता है | ३९.

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस शत्रु के निवास-स्थान हैं | इन तीनों के द्वारा ज्ञान को ढँक कर यह शत्रु देही को-आत्मा को-मोह में डाल देता है | ४०.

टिप्पणी: इन्द्रियों में काम व्याप्त होता है, इस कारण से मन मलिन होता है, मन के मलिन होने से विवेक-शक्ति मंद पड़ जाती है और विवेक-शक्ति के मंद पड़ने से ज्ञान का नाश होता है | देखिए, अध्याय २, श्लोक ६२-६४ |

इसलिए हे भरतर्षभ! तू पहले इन्द्रियों को वश में रखकर ज्ञान तथा अनुभव का नाश करने वाले इस पापी का अवश्य त्याग कर | ४१.

इन्द्रियों सूक्ष्म हैं, इन्द्रियों से अधिक सूक्ष्म मन है और मन से अधिक सूक्ष्म बुद्धि है | जो बुद्धि से भी अत्यन्त सूक्ष्म है वह आत्मा है | ४२.

टिप्पणी: इसलिए यदि इन्द्रियाँ वश में रहें, तो सूक्ष्म काम को जीतना सरल हो जाए |

इस प्रकार बुद्धि से अधिक सूक्ष्म आत्मा को पहचान कर और आत्मा के द्वारा मन को वश में करके हे महाबाहो, कामरूप दुर्जय शत्रु का तू संहार कर | ४३.

टिप्पणी: मनुष्य यदि देह में रहने वाली आत्मा को जान ले, तो मन उसके वश में रहता है, इन्द्रियों के वश में नहीं रहता | और यदि मन को जीत लिया जाए, तो फिर काम भला क्या कर सकता है?

ॐ तत्सत्

जो ब्रह्मविद्या भी है और योगशास्त्र भी हे ऐसे इस

श्री भगवान द्वारा गाये गये उपनिश्द् में आये हुए

श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के सवांद का 'कर्मयोग' नामक

तीसरा अध्याय यहाँ समाप्त होता है |

४.

ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग

इस अध्याय में तीसरे अध्याय का अधिक विवेचन किया गया है और अलग-अलग प्रकार के कुछ यज्ञों का वर्णन दिया गया है |

१३

श्री भगवान बोले:

यह अविनाशी योग मैंने विवस्वान से (सूर्य से) कहा | सूर्य ने इसे मनु से कहा और मनु ने ईक्ष्वाकु से कहा | १.

इस प्रकार परंपरा से प्राप्त हुए इस योग को राजर्षिगण जानते थे | परन्तु हे परंतप! बाद में लंबा समय बीत जाने के कारण वह लुप्त हो गया | २.

वही पुरातन योग, उत्तम मर्म का-रहस्य का-विषय होने के कारण, मैंने आज तुझसे कहा है, क्योंकि तू मेरा भक्त भी हो और मित्र भी हो | ३.

अर्जुन बोले:

आपका जन्म तो अभी का है और विवस्वान का जन्म बहुत पहले हुआ है | तब मैं यह कैसे जानूँ कि आपने वह (योग) सबसे पहले कहा था? ४.

श्री भगवान बोले:

हे अर्जुन! मेरे और तेरे भी अनेक जन्म हो चुके हैं | मैं उन सबको जानता हूँ, परन्तु हे परंतप, तू उन्हें नहीं जानता | ५.

मैं अजन्म, अविनाशी और साथ ही भूत मात्र का ईश्वर हूँ; फिर भी अपने स्वभाव पर आरूढ़ होकर अपनी माया के बल से मैं जन्म धारण करता हूँ | ६.

हे भारत! जब जब धर्म मंद पड़ता है और अधर्म का बल बढ़ता है, तब तब मैं जन्म धारण करता हूँ | ७.

साधुओं की रक्षा के लिए और दुष्टों के नाश के लिए तथा धर्म का पुनरुद्धार करने के लिए मैं युग-युग में जन्म लेता हूँ | ८.

टिप्पणी: यहाँ श्रद्धालु के लिए आश्वासन है; और सत्य के-धर्म के-कभी विचलित न होने की प्रतिज्ञा है | इस जगत में उतार-चढ़ाव तो आया ही करते हैं | परन्तु अन्त में धर्म की ही जय होती है | संतो का नाश नाश नहीं होता,क्योंकि सत्य का नाश नहीं होता | दुष्टों का नाश निश्चित होता है, क्योंकि असत्य का कोई अस्तित्व नहीं है | यह जानकर मनुष्य स्वयं कर्तृत्व के अभिमान से हिंसा न करे, दुराचार न करे | ईश्वर की अगम्य माया अपना काम करती ही रहती है | यही है अवतार अथवा ईश्वर का जन्म | वस्तुतः ईश्वर के लिए जन्म हो ही नहीं सकता |

इस प्रकार जो मनुष्य मेरे दिव्य जन्म और कर्म के रहस्य को जानता है, वह है अर्जुन! देह का त्याग करके पुनर्जन्म प्राप्त नहीं करता, परन्तु मुझे प्राप्त करता है | ९.

टिप्पणी: क्योंकि जब मनुष्य को ऐसा दृढ़ विश्वास हो जाता है कि ईश्वर सत्य की ही जय कराता है, तब वह सत्य को छोड़ता नहीं, धैर्य धारण करता है, दुःख सहन करता है और ममता-रहित होने के कारण जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है तथा ईश्वर का ही ध्यान करके उसमें लीन हो जाता है |

राग, भय और क्रोध-रहित बने हुए, मेरा ही ध्यान धरने वाले, मेरा ही आश्रय लेने वाले तथा ज्ञानरूपी तप से पवित्र बने हुए अनेक पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए है | १०.

जो मनुष्य जिस प्रकार मेरा आश्रय लेते हैं, उन्हें मैं उसी प्रकार फल देता हूँ | प्रकार कोई भी हो, परन्तु हे पार्थ! मनुष्य मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं-मेरे शासन के नीचे रहते हैं | ११.

टिप्पणी: अर्थात् कोई भी मनुष्य ईश्वरीय नियम का उल्लंघन नहीं कर सकता | मनुष्य जैसा बोता है वैसा काटता है; जैसा करता है वैसा भरता है | ईश्वर के नियम का-कर्म के नियम का कोई अपवाद नहीं होता | सबको समान अर्थात् अपनी अपनी योग्यता के अनुसार न्याय मिलता है |

कर्मों की सिद्धि-फल-चाहने वाले लोग इस जगत में देवताओं की पूजा करते हैं | कर्म से उत्पन्न होने वाला फल इस मनुष्य-लोक में उन्हें तुरन्त मिलता है | १२.

टिप्पणी: यहाँ देवताओं का अर्थ स्वर्ग में बसने वाले इन्द्र, वरुणादि देवता नहीं है | देवता का अर्थ है ईश्वर की अंशरूप शक्ति | इस अर्थ में मनुष्य भी देवता है | भाप, बिजली आदि महान शक्तियाँ देवता है | हम यह प्रत्यक्ष देखते है कि उनकी आराधना करने का फल तुरन्त और इसी लोक में मिलता है | वह फल क्षणिक है | वह फल जब आत्मा को संतोष भी नहीं देता, तब मोक्ष तो दे ही कैसे सकता है?

गुण और कर्म के विभागों के अनुसार मैंने चार वर्ण उत्पन्न किए हैं | उनका कर्ता होते हुए भी तू मुझे अविनाशी अकर्ता समझ | १३.

कर्म मुझे स्पर्श नहीं करते | उनके फल के बारेमें मुझे कोई लालसा नहीं है | इस प्रकार जो मनुष्य मुझे भलीभाँती जानते हैं, वे कर्मों के बन्धन में नहीं बँधते | १४.

टिप्पणी: क्योंकि मनुष्य के सामने कर्म करते हुए भी अकर्मी रहने का ईश्वर सर्वोतम उदाहरण है|

और सब कर्मो का कर्ता ईश्वर ही है, हम तो निमित्त-मात्र है; तब फिर कर्तापन का अभिमान हमें क्यों होना चाहिए?

ऐसा जानकर प्राचीन काल के मुमुक्षुओं ने कर्म किए है | इसलिए तू भी पूर्वज जिस प्रकार सदा कर्म करते आए हैं उस प्रकार कर्म ही करता रह | १५.

१४

कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इस विषय में बुद्धिशाली लोग भी मोह में पड़ जाते हैं | इसलिए कर्म के विषय में मैं तुझे अच्छी तरह समझाकर कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभ से बच सकेगा |

१६.

कर्म का, विकर्म (अर्थात् निषिद्ध कर्म) का और अकर्म का भेद जानना चाहिए | कर्म की गति गूढ़ है, गहन है | १७.

जो मनुष्य कर्म में अकर्म को देखता है और अकर्म में कर्म को देखता है, वह मनुष्यो में बुद्धिमान माना जाता है | वह योगी है और वह संपूर्ण रूप से कर्म करने वाला है | १८.

टिप्पणी: जो मनुष्य कर्म करते हुए भी कर्तापन का अभिमान नहीं रखता उसका कर्म अकर्म है | और जो मनुष्य बाहर से कर्म का त्याग करके भी मन में हवाई किले बाँधा करता है उसका वह अकर्म भी कर्म है |

जिस मनुष्य को लकवा मार गया है, वह जान बूझकर-अभिमानपूर्वक-अपने लकवे वाले अंग को हिलाए तभी वह हिलता है | यह बीमार अपना अंग हिलाने की क्रिया का कर्ता बनता है | अकर्तापन आत्मा का गुण है | जो आत्मा मोहग्रस्त होकर अपने को कर्ता मानती है, उस आत्मा को मानो लकवा मार गया है और वह अभिमानी होकर कर्म करती है |

इस प्रकार जो कर्म की गति को जानता है, वही बुद्धिमान योगी कर्तव्य-परायण माना जाएँगा | 'मैं करता हूँ' ऐसा मानने वाला पुरुष कर्म और विकर्म का भेद भूल जाता है और साधन के सारासार का विचार नहीं करता | आत्मा की स्वाभाविक गति उर्ध्व है; इसलिए जब मनुष्य नीति का मार्ग छोड़ता है तब ऐसा कहा जा सकता है कि उसमें मैं-पन निश्चित रूप से है | अभिमान-रहित पुरुष के समस्त कर्म स्वभाव से ही सात्त्विक होते हैं |

जिसके सारे आरंभ कामना और संकल्प-रहित होते हैं और जिसके कर्म ज्ञानरूपी अग्नि द्वारा भस्म हो गए हैं, ऐसे पुरुष को ज्ञानीजन पंडित कहते हैं | १९.

कर्मफल की आसक्ति छोड़कर जो मनुष्य सदा ही संतुष्ट रहता है और जिसे किसी तरह के आश्रय की लालसा नहीं है, वह कर्म में अच्छी तरह लीन होने पर भी कुछ नहीं करता ऐसा कहा जाएँगा | २०.

टिप्पणी: कहने का आशय यह कि उसे कर्म का बन्धन नहीं भोगना पड़ता | जो आशा –रहित है, जिसका मन अपने वश में है, जिसने सब प्रकार का संग्रह छोड़ दिया है और जिसका केवल शरीर ही कर्म करता है, वह कर्म करते हुए भी दोष का भागी नहीं होता | २१.

टिप्पणी: अभिमान से किया गया कोई भी कर्म चाहे जितना सात्त्विक हो, तो भी वह बन्धन-कारक होता है | कर्म जब इश्वरार्पण बुद्धि से अभिमान की भावना न रख कर किया जाता है, तभी वह बन्धन-रहित बनता है | जिस मनुष्य का 'मैं' शून्यता को प्राप्त हो गया है, उसका केवल शरीर ही कर्म करता है | सोते मनुष्य का केवल शरीर ही काम करता है, ऐसा कहा जा सकता है | जो कैदी बलात्कार के वश होकर, अनिच्छा से हल चलाता है, उसका केवल शरीर ही काम करता है | जो मनुष्य अपनी इच्छा से ईश्वर का कैदी बना है, उसका भी केवल शरीर ही काम करता है; क्योंकि वह स्वयं शून्य बन गया है; प्रेरक ईश्वर है |

जो मनुष्य अनायास मिले हुए लाभ से संतुष्ट रहता है, जो सुख-दुःख आदि द्वंद्व से मुक्त हो गया है, जो द्वेष-रहित हो गया है और जो सफलता-निष्फलता के विषय में तटस्थ है, वह कर्म करते हुए भी उसके बन्धन में नहीं बंधता | २२.

जो मनुष्य आसक्ति से रहित है, जिसका चित ज्ञान में स्थिर है, जो मुक्त है, वह केवल यज्ञ की भावना से ही कर्म करने वाला है, इसलिए उसके समस्त कर्मो का लय हो जाता है | २३.

(यज्ञ में) अर्पण की क्रिया ब्रह्म है, हवि अर्थात् हवन की वस्तु ब्रह्म है और ब्रह्मरूपी अग्नि में हवन करने वाला मनुष्य भी ब्रह्म है; इस प्रकार कर्म के साथ जिसने ब्रह्म का मेल साधा है, वह ब्रह्म को ही प्राप्त करता है | २४.

इसके अतिरिक्त, कुछ योगी देवताओं का पूजन-रूप यज्ञ ही करते हैं और दूसरे ब्रह्मरूपी अग्नि में यज्ञ के द्वारा यज्ञ को ही होमते हैं | फिर, कुछ योगीजन श्रवणादि इन्द्रियों का संयम-रूप यज्ञ करते हैं और दूसरे कुछ शब्दादि विषयों को इन्द्रीय-रूपी अग्नि में होमते हैं | २५-२६.

टिप्पणी: सुनने की क्रिया आदि का संयम करना एक बात है; और इन्द्रियों का उपयोग करते हुए भी उनके विषयों को प्रभु-प्रीत्यर्थ काम में लेना-उदाहरण के लिए, भजनादि सुनना-दूसरी बात है | परन्तु वास्तव में ये दोनों बातें एक ही हैं |

और, दूसरे योगीजन इन्द्रियों के समस्त कर्मों को तथा प्राण के समस्त कर्मों को ज्ञानरूपी दीपक से जलाई हुई आत्म-संयम-रूप योगाग्नि में होमते हैं | २७.

टिप्पणी: अर्थात् परमात्मा में तन्मय हो जाते हैं |

इस प्रकार कोई यज्ञ के लिए द्रव्य देने वाले होते हैं; कोई तप करने वाले होते है | कुछ अष्टांग-योग साधने वाले होते हैं; जब कि कुछ स्वाध्याय तथा ज्ञानयज्ञ करते हैं | ये तीक्ष्ण व्रतधारी प्रयत्नशील याज्ञिक हैं | २८.

दूसरे प्राणायाम में तत्पर रहने वाले योगी अपानवायु को प्राणवायु में होमते हैं, प्राणवायु को अपान-वायु में होमते हैं, अथवा प्राणवायु और अपान-वायु दोनों को रोकते हैं | २९.

टिप्पणी: ये तीन प्रकार के प्राणायाम हैं - रेचक, पूरक और कुंभक |

संस्कृत में प्राणवायु का अर्थ सामान्यतः समझे जाने वाले अर्थ से उलटा है | यह प्राणवायु भीतर से बाहर निकलने वाली है | हम जिस वायु को बाहर से भीतर लेते हैं, उसे प्राणवायु-ऑक्सीजन-के नाम से पहचानते हैं |

और, दूसरे लोग आहार का संयम करके प्राणों को प्राणों में ही होमते हैं | जिन्हों ने यज्ञों के द्वारा अपने पापों को क्षीण कर दिया है, ऐसे ये सब लोग यज्ञ को जानते है | ३०.

हे कुरुसत्तम ! यज्ञ से बचा हुआ अमृत खाने वाले लोग सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं | जो मनुष्य यज्ञ नहीं करता उसके लिए जब यह लोक भी नहीं है, तो परलोक तो हो ही कैसे सकता है? ३१.

इस तरह वेदों में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया गया है | इन सब यज्ञों को तू कर्म से उत्पन्न हुआ जान | इस प्रकार जानकर तू मोक्ष को प्राप्त करेगा | ३२.

टिप्पणी: यहाँ कर्म का व्यापक अर्थ है-अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक कर्म | ऐसे कर्म के बिना यज्ञ नहीं हो सकता | यज्ञ के बिना मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता | इस प्रकार जानने का और इस ज्ञान के अनुसार आचरण करने का अर्थ है यज्ञों के रहस्य को जानना |

कहने का तात्पर्य यह हे कि मनुष्य अपने शरीर, बुद्धि और आत्मा की शक्ति का उपयोग प्रभु-प्रीत्यर्थ-लोकसेवा के लिए-न करे, तो वह चोर सिद्ध होता है | वह मोक्ष के योग्य नहीं बन सकता | जो मनुष्य केवल अपनी बुद्धिशक्ति का ही उपयोग करता है और शरीर तथा आत्मा की शक्ति का उपयोग नहीं करता, वह पूरा याज्ञिक नहीं है | इन तीनों शक्तियों का सुमेल साधे बिना इनका परोपकार के लिए उपयोग नहीं हो सकता | इसलिए आत्मशुद्धि के बिना शुद्ध लोकसेवा असंभव है | सेवक को अपनी शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक तीनों शक्तियों का एकसा विकास करना चाहिए |

१५

हे परंतप! द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अधिक अच्छा है, क्योंकि हे पार्थ! सारे कर्म ज्ञान में ही पराकाष्ठा को पहुँचते हैं | ३३.

टिप्पणी: परोपकार की वृत्ति से दिया हुआ द्रव्य भी यदि ज्ञानपूर्वक न दिया गया हो, तो बहुत बार हानिकारक सिद्ध होता है, यह किस मनुष्य का अनुभव नहीं है? शुभ वृत्ति से किए हुए समस्त कर्म तभी शोभा पाते हैं, जब उनके साथ ज्ञान का मिलन हो | इसलिए समस्त कर्मो की पूर्णाहुति ज्ञान में ही होती है |

तत्त्व को जानने वाले ज्ञानीजनों की सेवा करके तथा नम्रता और विवेकपूर्वक बार-बार उनसे प्रश्न करके तू इस ज्ञान को जान लेना | वे तेरी जिज्ञासा को तृप्त करेंगे | ३४.

टिप्पणी: ज्ञान प्राप्त करने की तीन शर्ते-प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा-इस युग में खूब ध्यान रखने योग्य हैं | प्रणिपात का अर्थ है नम्रता, विवेक; परिप्रश्न का अर्थ है बार-बार पूछना; सेवा-रहित नम्रता खुशामद समझी जा सकती है | इसके अतिरिक्त, शोध और जाँच-पड़ताल के बिना ज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं है, इसलिए समझ में न आए तब तक शिष्य को नम्रतापूर्वक गुरु से प्रश्न पूछते रहना गुरु के प्रति हमारी श्रद्धा नहीं होती, उसके प्रति हार्दिक नम्रता नहीं हो सकती; तब फिर उसकी सेवा तो हमसे हो ही कैसे सकती है?

हे पांडव! वह ज्ञान प्राप्त करने के बाद तुझे फिर से ऐसा मोह नहीं होगा; उस ज्ञान के द्वारा तू सारे भूतों को अपने में और मुझ में देखेगा | ३५.

टिप्पणी: 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का यही अर्थ है | जिसे आत्म-दर्शन हुआ है, वह अपनी आत्मा और दूसरे के बीच कोई भेद नहीं देखता |

सारे पापियों में तू बड़े से बड़ा पापी हो, तो भी ज्ञानरूपी नौका की मदद से तू समस्त पापों को पार कर जाएगा | ३६.

हे अर्जुन! जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधन को जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि समस्त कर्मो को जलाकर भस्म कर देती है | ३७.

इस संसार में ज्ञान जैसी पवित्र अर्थात् शुद्ध करने वाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है | योग में-समत्व में पूर्णता को पहुँचा हुआ मनुष्य समय पाकर स्वयं ही उस ज्ञान को अपने भीतर प्राप्त करता है | ३८.

श्रद्धावान, ईश्वर-परायण और जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान को प्राप्त करता है और ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् तुरन्त ही परम शांति को प्राप्त करता है | ३९.

जो मनुष्य अज्ञान और श्रद्धा-रहित होने के कारण संशयवान है, उसका नाश होता है | संशवान मनुष्य के लिए न तो यह लोक है और न परलोक; उसे कहीं भी सुख नहीं मिलता | ४०.

जिसने समत्व-रूपी योग द्वारा कर्मों का अर्थात् कर्म के फल का त्याग किया है और ज्ञान के द्वारा संशयों का नाश कर दिया है, उस आत्मदर्शी के लिए हे धनंजय! कर्म बन्धन-कारक नहीं होते | ४१.

इसलिए हे भारत! हृदय में अज्ञान के कारण उत्पन्न हुए संशय का आत्मज्ञान-रूपी तलवार से नाश करके तू योग का समत्व धारण कर और खड़ा हो जा | ४२.

ॐ तत्सत्

जो ब्रह्मविद्या भी है और योगशास्त्र भी है ऐसे इस

श्री भगवान द्वारा गाये गये उपनिषद् में आए हुये श्रीकृष्ण

तथा अर्जुन के संवाद का 'ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग' नामक

चौथा अध्याय यहाँ समाप्त होता है |

५.

कर्म-संन्यास –योग

इस अध्याय में यह बताया गया है कि कर्मयोग के बिना कर्म-संन्यास हो ही नहीं सकता और वास्तव में दोनों एक ही हैं |

१६

अर्जुन बोले:

हे कृष्ण! आप कर्मों के त्याग की और साथ ही कर्मों के योग की भी स्तुति करते हैं | आप मुझे निश्चयपूर्वक कहिये कि इन दो में से श्रेयस्कर क्या है? १.

श्री भगवान बोले:

कर्मो का संन्यास और योग दोनों मोक्ष देनेवाले है | परन्तु इन दोनों में कर्मयोग कर्म-संन्यास से श्रेष्ठ है | २.

जो मनुष्य किसी से द्वेष नहीं करता और किसी बात की इच्छा नहीं करता, उसे सदा संन्यासी ही मानना चाहिए | क्योंकि हे महाबाहो! जो मनुष्य सुख-दुःख द्वन्द्वों से मुक्त है, वह सरलतापूर्वक बन्धन से छूट जाता है | 3.

टिप्पणी: कहने का मतलब यह है कि कर्म का त्याग संन्यास का मुख्य लक्षण नहीं है, परन्तु द्वन्द्वातीत होना ही उसका मुख्य लक्षण है | एक मनुष्य कर्म करते हुए भी संन्यासी हो सकता है | दूसरा मनुष्य कर्म न करते हुए भी मिथ्याचारी हो सकता है | देखिए अध्याय 3, श्लोक ६ |

सांख्य और योग-ज्ञान और कर्म-ये दो भिन्न हैं, ऐसा अज्ञानी मनुष्य कहते हैं, पंडित नहीं कहते | इनमें से किसी एक में भी अच्छी तरह स्थिर रहने वाला मनुष्य दोनों का फल प्राप्त करता है |४.

टिप्पणी: लोक-संग्रह-रूपी कर्मयोग का जो विशेष फल है, उसे ज्ञानयोगी केवल संकल्प से ही प्राप्त कर लेता है; जब कि कर्मयोगी अपनी अनासक्ति के कारण बाहरी कर्म करते हुए भी ज्ञानयोगी की शांति का सहज ही उपभोग करता है |

सांख्यमार्गी जो स्थान प्राप्त करता है, वही स्थान योगी भी प्राप्त करता है | जो मनुष्य सांख्य और योग को एकरूप देखता है, वही सच्चे अर्थ में देखता है | ५.

हे महाबाहो! कर्मयोग के बिना कर्म-संन्यास कठिनाई से सिद्ध होता है, परन्तु समत्ववान मुनि शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करता है | ६.

जिसने योग सिद्ध कर लिया है, जिसने अपने हृदय को विशुद्ध बना लिया है, जिसने मन और इन्द्रियों को जीत लिया है और सारे भूतों को अपने समान ही समझता है, वह मनुष्य कर्म करते हुए भी उससे अलिप्त रहता है | ७.

सत्त्व को जानने वाला योगी देखते हुए, सुनते हुए, स्पर्श करते हुए सूँघते हुए, खाते हुए, चलते हुए, सोते हुए, श्वास लेते हुए, बोलते हुए, छोड़ते हुए या लेते हुए तथा आँख खोलते और मींचते हुए भी केवल इन्द्रियाँ ही अपने अपने कार्य करती हैं ऐसी भावना रखे और यह समझे कि 'मैं कुछ भी नहीं करता |' ८-९.

टिप्पणी: जब तक मनुष्य में वासना और देहाभिमान होता है तब तक ऐसी अलिप्त स्थिति प्राप्त नहीं होती | इसलिए विषयासक्त मनुष्य यह कहकर छूट नहीं सकता कि 'विषयों का भोग मैं नहीं करता; इन्द्रियाँ अपना कार्य करती हैं |' ऐसा अनर्थ करने वाला मनुष्य न तो गीता को समझता और न धर्म को समझता | नीचे का श्लोक इस बात को स्पष्ट करता है |

जो मनुष्य कर्मों का ब्रह्मार्पण कर देता है तथा आसक्ति छोड़कर कर्म करता है, वह पाप से उसी तरह अलिप्त रहता है जिस तरह पानी में रहने वाला कमल पानी से अलिप्त रहता है | १०.

योगीजन शरीर से, मन से, बुद्धि से अथवा केवल इन्द्रियों से भी आसक्ति-रहित होकर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं | ११.

समतावान योगी कर्मफल का त्याग करके परम शांति को प्राप्त करता है; जब कि राग-द्वेष वाला मनुष्य कामना से प्रेरित होने के कारण कर्मफल में आसक्त होकर बन्धन में फँसता है | १२.

संयमी पुरुष मन से सारे कर्मों का त्याग करके नौ द्वारों वाले नगर-रूपी शरीर में रहते हुए भी, न कुछ करता और न कुछ कराता हुआ, सुख से रहता है | १३.

टिप्पणी: दो नथुने, दो कान, दो आँखें, मलत्याग के दो स्थान और मुँह-इस प्रकार शरीर के नौ मुख्य द्वार हैं | वैसे तो चमड़ी के असंख्य छेद भी शरीर के द्वार ही हैं | इन द्वारों का चौकीदार यदि इनमें आवागमन करने वाले अधिकारियों को ही आने और जाने देकर अपने धर्म का पालन करे, तो उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि यह आवागमन होते रहने पर भी चौकीदार उसमें भाग नहीं लेता, वह केवल उसका साक्षी है | इसलिए वह न तो कुछ करता है और न कुछ कराता है |

१७

जगत का प्रभु न तो कर्तापन की रचना करता है, न कर्म की रचना करता है; और न वह कर्म तथा फल का मेल साधता है | प्रकृति ही सब-कुछ करती है | १४.

टिप्पणी: ईश्वर कर्ता नहीं है | कर्म का नियम अचल और अनिवार्य है | और जो मनुष्य जैसा करता है वैसा उसे भरना ही पड़ता है | इसीमें ईश्वर की महादया समाई हुई है, उसका न्याय समाया हुआ है | शुद्ध न्याय में शुद्ध दया है | शुद्ध न्याय की विरोधिनी दया सच्ची दया नहीं है, परन्तु क्रूरता है | परन्तु मनुष्य त्रिकालदर्शी नहीं है | इसलिए दया-क्षमा-ही उसके लिए न्याय है | वह स्वयं निरंतर न्याय का पात्र होने के कारण क्षमा का याचक है | वह क्षमा करके ही दूसरों के साथ न्याय कर सकता है | अपने भीतर वह क्षमा के गुण का विकास करे, तो ही अन्त में अकर्ता, योगी, समतावान और कर्म में कुशल बन सकता है |

ईश्वर किसी के पाप या पुण्य को अपने सिर नहीं लेता | अज्ञान से ज्ञान ढंक जाता है; और इसलिए प्राणी मोह में फंस जाते हैं | १५.

टिप्पणी: मनुष्य अज्ञान से, अर्थात् 'मैं करता हूँ' इस वृत्ति से, कर्म के बन्धन में बंधता है, फिर भी अच्छे-बुरे फलों का आरोपण वह ईश्वर पर करता है | वह मोहजाल है |

परन्तु आत्मज्ञान के द्वारा जिन मनुष्यों के अज्ञान का नाश हुआ है, उनका वह सूर्य के समान, प्रकाशमय ज्ञान उन्हें परम तत्त्व का दर्शन कराता है | १६.

ज्ञान के द्वारा जिनके सब पाप धुल गए है ऐसे, ईश्वर का ध्यान धरने वाले, ईश्वरमय बने हुए, उसमें स्थिर रहनेवाले तथा उसीको सर्वस्व मानने वाले लोग मोक्ष प्राप्त करते हैं | १७.

विद्वान और विनयवान ब्राह्मण के विषय में, या गाय के विषय में, बड़े हाथी के विषय में, कुत्ते के विषय में तथा कुत्ते को खाने वाले चांडाल के विषय में ज्ञानीजन समदृष्टि रखते हैं | १८.

टिप्पणी: अर्थात् वे किसी प्रकार का भेदभाव रखे बिना आवश्यकता के अनुसार सबकी सेवा करते हैं | ब्राह्मण और चांडाल के प्रति समभाव रखने का अर्थ यह है कि ब्राह्मण को साँप काटने पर जिस प्रकार ज्ञानी पुरुष उसके विष को प्रेम से चूसकर उसे विषमुक्त करने का प्रयत्न करेगा, उसी प्रकार चांडाल को साँप काटने पर भी वह वैसा ही व्यवहार करेगा |

जिन लोगों का मन समत्व में स्थिर हो गया है, उन्होंने इस देह में रहते हुए ही जन्म-मरण के चक्र को जीत लिया है | ब्रह्म निष्कलंक है और समदृष्टि वाला है, इसलिए वे लोग ब्रह्म में ही स्थिर होते हैं | १९.

टिप्पणी: मनुष्य जैसा और जिसका चिंतन करता है वैसा वह बन जाता है | इसलिए समत्व का चिंतन करके निर्दोष बनकर वह समत्व की मूर्ति के समान निर्दोष ब्रह्म को प्राप्त करता है |

जिस मनुष्य की बुद्धि स्थिर हो गई है, जिसका मोह नष्ट हो गया है, जो ब्रह्म को जानता है और ब्रह्म में स्थिर होकर रहता है, वह प्रिय को प्राप्त करके सुखी नहीं होता और अप्रिय को प्राप्त करके दुःखी नहीं होता | २०.

बाह्य विषयों में आसक्ति न रखने वाला पुरुष अन्तर में जो आनंद भोगता है, वही अक्षय्य आनंद उपर्युक्त ब्रह्म-परायण पुरुष अनुभव करता है | २१.

टिप्पणी: जो मनुष्य अंतर्मुख हो गया है, वही ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है और वही परम आनंद प्राप्त कर सकता है | विषयों से निवृत्त रहकर कर्म करना और ब्रह्म-समाधि में लीन होना, ये दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं, परन्तु एक ही वस्तु को देख ने की दो दृष्टियाँ हैं-एक ही सिक्के के दो पहलू हैं |

विषयों से उत्पन्न होने वाले भोग अवश्य ही दुःख का कारण है | हे कौन्तेय! वे आरंभ और अन्तवाले होते हैं | समझदार मनुष्य उनमें आनंद नहीं मानता | २२.

शरीर छूटे उसके पूर्व जो मनुष्य काम और क्रोध के वेग को इस देह में-इस जन्म में ही पचाने की शक्ति प्राप्त करता है, उसीने समत्व सिद्ध किया है, वही सुखी है | २३.

टिप्पणी: मृत शरीर के लिए जैसे इच्छा या द्वेष नहीं होता, सुख-दुःख नहीं होते, वैसे ही जो मनुष्य जीवित होते हुए भी मृत के समान, जड़भरत के समान देहातीत रह सकता है, वह इस जगत में जीता हुआ है और वह सच्चे आत्मसुख का अनुभव करता है |

जो अन्तर का आनंद अनुभव करता है, जिसके अन्तर में शांति है, जिसे अन्तरज्ञान सिद्ध हुआ है, वह योगी ब्रह्मरूप बनकर ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त करता है | २४.

जिन के पाप नष्ट हो गए हैं, जिनकी शंकाए और दुविधाएँ मिट गई हैं, जिन्होंने मन को वश में कर लिया है और जो प्राणीमात्र के हित में ही संलग्न रहते हैं, ऐसे ऋषि ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त करते हैं |

२५.

जो अपने-आपको पहचानते हैं, जिन्हों ने काम और क्रोध को जीत लिया है, जिन्होंने मन को वश में कर लिया है, ऐसे यतियों के लिए सर्वत्र ब्रह्म-निर्वाण ही है | २६.

बाहर के विषय-भोगों का बहिष्कार करके, दृष्टि को भृकुटि के बीच स्थिर करके, नासिका के मार्ग से जाने-आने वाली प्राणवायु और अपान-वायु की गति को एकसी रखकर, इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि को वश में रखकर तथा इच्छा, भय और क्रोध से रहित होकर जो मुनि मोक्ष में परायण रहता है, वह सदा मुक्त ही है | २७-२८.

टिप्पणी: प्राणवायु भीतर से बाहर निकलने वाली और अपान-वायु बाहर से भीतर जाने वाली वायु है | इन श्लोकों में प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओं का समर्थन किया गया है | प्राणायाम आदि बाह्य क्रियाएँ हैं, और उनका असर शरीर को स्वस्थ रखने जितना तथा उसे परमात्मा के रहने योग्य मंदिर बनाने जितना ही है | भोगी के लिए जो कार्य सामान्य व्यायामादि करते हैं, वही कार्य योगी के लिए प्राणायाम आदि क्रियाएँ करती हैं | भोगी के व्यायामादि उसकी इन्द्रियों को उत्तेजित करने में सहायक होते हैं | शरीर को नीरोग और कठिन बनाते हुए भी प्राणायामादि क्रियाएँ इन्द्रियों को शान्त रखने में योगी की सहायता करती हैं | आज के जमाने में प्राणायामादि विधियाँ कुछ लोगों को ही आती हैं और जिन्हें आती हैं उनमें से भी बहुत थोड़े लोग उनका

सदुपयोग करते हैं | जिन लोगों ने इन्द्रियों, मन और बुद्धि पर कम से कम प्राथमिक विजय प्राप्त कर ली है, जिन्हें मोक्ष की तीव्र लगन है और जिन्होंने राग-द्वेषादि को जीत कर भय को त्याग दिया है, उनके लिए प्राणायामादि क्रियाएँ अवश्य ही उपयोगी और सहायक सिद्ध होती हैं |

आन्तरिक शुद्धि के अभाव में प्राणायामादि क्रियाएँ बन्धन का एक साधन बनकर मनुष्य को मोहकूप में अधिक गहरा ले जा सकती हैं-ले जाती हैं | अनेक लोगों का ऐसा अनुभव है | इसलिए योगीन्द्र पतंजलि ने यम नियमों को प्रथम स्थान दिया है तथा उन्हें सिद्ध करने वाले के लिए ही प्राणायामादि क्रियाओं को मोक्षमार्ग में सहायक माना है |

यम पाँच हैः अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह | नियम पाँच हैः शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान |

मुझे यज्ञ और तप का भोक्ता, समस्त लोकों का महेश्वर तथा भूत मात्र का हित करने वाला जानकर (उक्त मुनि) शांति प्राप्त करता है | २९.

टिप्पणी: कोई यह न समझे कि यह श्लोक इस अध्याय के १४ वें तथा १५ वें श्लोकों और ऐसे ही दूसरे श्लोकों का विरोधी है | ईश्वर सर्व-शक्तिमान है, इसलिए वह कर्ता-अकर्ता, भोक्ता जो कहो सो है और नहीं भी है | वह अवर्णनीय है | वह मनुष्य की भाषा से परे है | इसलिए उसमें परस्पर विरोधी गुणों और शक्तियों का आरोपण करके मनुष्य उसकी झाँकी करने की आशा रखता है |

ॐ तत्सत्

जो ब्रह्मविद्या भी है और योगशास्त्र भी है ऐसे इस

श्री भगवान द्वारा गाये गये उपनिषद् में आये हुए

श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के संवाद का 'कर्म-संन्यास-योग'

नामक पाँचवा अध्याय यहाँ समाप्त होता है |

६.

ध्यानयोग

इस अध्याय में योग साधने के अर्थात् समत्व सिद्ध करने के कुछ साधन बताए गए हैं

१८

श्री भगवान बोले:

जो मनुष्य कर्मफल का आश्रय लिए बिना विहित कर्म करता है, वह संन्यासी भी है और योगी भी है; वह मनुष्य नहीं जो अग्नि का अर्थात् अग्निहोत्र का और दूसरी सारी क्रियाओं का त्याग कर देता है | १.

टिप्पणी: यहाँ विहित का अर्थ है कर्तव्य के रूप में प्राप्त हुआ (सत्कर्म) | अग्नि का अर्थ है साधन-मात्र | जब अग्नि के द्वारा होम होता था तब अग्नि की आवश्यकता रहती थी | संन्यासी होम नहीं कर सकते थे, इसलिए उन्हें निरग्नि कहा जाता था |

मान लीजिए कि आज के युग में चरखा सेवा का साधन है, तो चरखे का त्याग करके कोई संन्यासी नहीं हो सकता |

हे पांडव! जिसे संन्यास कहा जाता है, उसे तू योग समझ | जिसने मन के संकल्पों का त्याग नहीं किया है, वह कभी योगी नहीं हो सकता | २.

योग साधने वाले मनुष्य के लिए कर्म साधन है; जिसने योग सिद्ध कर लिया है, उसके लिए उपशम अर्थात् विरति, शांति ही साधन होती है | ३.

टिप्पणी: जिस मनुष्य की आत्मशुद्धि हो गई है, जिसने समत्व सिद्ध कर लिया है, उसके लिए आत्म-दर्शन सरल होता है |

इसका अर्थ यह नहीं कि योगारूढ़ पुरुष को लोकसंग्रह के लिए भी कर्म करना ज़रूरी नहीं रहता | लोक-संग्रह के बिना वह जीवित ही नहीं रह सकता | इसलिए सेवा के कर्म करना भी उसके लिए स्वाभाविक हो जाता है | वह दिखावे के लिए कुछ नहीं करता | इसके साथ अध्याय ३ के श्लोक ४ और अध्याय ५ के श्लोक ४ की तुलना कीजिए |

जब मनुष्य इन्द्रियों के विषयों या कर्मों में आसक्त नहीं होता और समस्त संकल्पों का त्याग कर देता है तब वह योगारूढ़ कहलाता है | ४.

आत्मा के द्वारा मनुष्य आत्मा का उद्धार करे; उसकी अधोगति न करे | आत्मा ही आत्मा का मित्र है, और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है | ५.

जिस मनुष्य ने अपने बल से अपने-आपको जीत लिया है, उसीकी आत्मा उसकी मित्र है; जिसने-अपने आपको जीता नहीं है, वह अपने प्रति शत्रु के जैसा व्यवहार करता है | ६.

जिसने अपने मन को जीत लिया है और जो पूर्ण रूप से शान्त हो गया है, उसकी आत्मा सरदी-गरमी, सुख-दुःख तथा मान-अपमान में समान रहती है | ७.

जो ज्ञान और अनुभव से तृप्त हो गया है, जो अविचल है, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है तथा जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना समान हैं, ऐसा ईश्वर-परायण मनुष्य योगी कहा जाता है |८.

हितेच्छु, मित्र, शत्रु, तटस्थ, मध्यस्थ, अप्रिय या प्रिय-इन सबके प्रति तथा साधु और पापी दोनों के प्रति जो समान भाव रखता है वह श्रेष्ठ योगी है | ९.

[**टिप्पणी:** दोनों पक्षों के लिए एकसा उदासीन या बेपरवाह मनुष्य तटस्थ कहा जाएगा | एक-दूसरे के ख़िलाफ़ लड़ने वाले दोनों पक्षों का हित चाहने वाला मध्यस्थ कहा जाएगा | -का.]

योगी चित्त को स्थिर करके, वासना और संग्रह का त्याग करके तथा अकेला एकांत में रहकर अपनी आत्मा को निरंतर परमात्मा के साथ जोड़े | १०.

पवित्र स्थान में, न तो बहुत ऊँचा और न बहुत नीचा तथा जिस पर कुशा, मृगचर्म और वस्त्र एक पर एक बिछे हुए हों ऐसा स्थिर आसन अपने लिए स्थापित करके और उस पर एकाग्र मन से बैठकर चित्त तथा इन्द्रियों को वश में करके वह योगी आत्मशुद्धि के लिए योग की साधना करे | ११-१२.

स्थिर भाव से काया, गरदन तथा मस्तक को सीधी रेखा में अचल रखकर, इधर उधर न देखते हुए अपने नासिकाग्र पर दृष्टि को टिकाकर, पूर्ण शांति से, भयरहित होकर, ब्रह्मचर्य में दृढ़ रहकर तथा मन को वश में करके मुझमें परायण हुआ योगी मेरा ध्यान करता हुआ बैठे | १३-१४.

टिप्पणी: नासिकाग्र का अर्थ है भृकुटी के बीच का भाग (देखीये अ. ५, श्लो. २७) | ब्रह्मचारी-व्रत का अर्थ केवल वीर्य-संग्रह ही नहीं है, परन्तु ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए आवश्यक अहिंसादी समस्त व्रत है |

इस प्रकार जिस का मन नियंत्रण में है ऐसा योगी अपनी आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ता है और मुझे प्राप्त करनें में निहित मोक्षरूपी परम शांति को प्राप्त करता है | १५.

हे अर्जुन! यह समत्व-रूपी योग न तो बहुत खाने वाले को प्राप्त होता है और न बिलकुल उपवास करनेवाले को; इसी प्रकार यह योग न तो अतिशय सोने वाले को प्राप्त होता है और न अतिशय जागने वाले को | १६.

जो मनुष्य आहार-विहार में, सोने-जागने में तथा दूसरे सब कार्यों में उचित अनुपात बनाए रखता है, उसके लिए यह योग दु:खों का नाश करने वाला सिद्ध होता है | १७.

भलीभाँति नियंत्रित किया हुआ चित्त जब आत्मा में स्थिर हो जाता है और मनुष्य समस्त कामनाओं के विषय में निःस्पृह बन जाता है तब वह योगी कहा जाता है | १८.

आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ने का प्रयत्न करने वाले स्थिरचित्त योगी की स्थिति वायु-रहित स्थान में अचलित रहने वाले दीपक के जैसी कही गई है | १९.

योग के सेवन से अंकुश में आया हुआ मन जिस स्थिति में शांति प्राप्त करता है, जिसमें आत्मा के द्वारा ही आत्मा को पहचानकर आत्मा में मनुष्य संतोष प्राप्त करता है; जिसमें इन्द्रियों से परे तथा बुद्धि से ग्रहण करने योग्य अनन्त सुख का अनुभव होता है; जिसमें स्थित हुआ मनुष्य मूल वस्तु से विचलित नहीं होता; इसके अतिरिक्त जिसे प्राप्त करने के बाद दूसरे किसी लाभ को वह अधिक नहीं मानता; तथा जिसमें स्थिर हुआ मनुष्य महादुःख से भी डिगता नहीं, दुःख के प्रसंगों से रहित उस स्थिति को योग की स्थिति समझना चाहिए | इस योग की अकुलाये और उकताये बिना दृढ़ता से साधना करनी चाहिए | २०-२१-२२-२३.

संकल्प से उत्पन्न होने वाली समस्त कामनाओं को सम्पूर्णतया छोड़कर, मन के द्वार ही इन्द्रियों के समूह को समस्त दिशाओं से भलीभाँति नियंत्रण में लाकर, योगी को अविचलित बुद्धि से धीरे-धीरे शान्त होना चाहिए और मन को आत्मा में स्थिर करके अन्य किसी वस्तु का विचार नहीं करना चाहिए | २४-२५.

चंचल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ भटकने जाए वहाँ वहाँ से उसे नियमन में लाकर (योगी को) अपने वश में करना चाहिए | २६.

जिसका मन भलीभाँती शान्त हो गया है, जिसके विकारों का शमन हो गया है, ऐसा ब्रह्ममय बना हुआ निष्पाप योगी अवश्य ही उत्तम सुख प्राप्त करता है | २७.

इस प्रकार पाप-रहित बना हुआ योगी आत्मा के साथ निरंतर अनुसंधान करते हुए सरलता से ब्रह्म प्राप्ति-रूपी अनंत और अपार सुख का अनुभव करता है | २८.

सर्वत्र समभाव रखने वाला योगी अपने को सारे भूतों में देखता है और सारे भूतों को अपने में देखता है | २९.

जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, वह मेरी दृष्टि से कभी दूर नहीं हटता और मैं उसकी दृष्टि से कभी दूर नहीं हटता | ३०.

इस प्रकार मुझमें लीन हुआ जो योगी भूत मात्र में बसे हुए मुझे भजता है, वह सब प्रकार से (कर्मों में) लगा रहकर भी मुझमें ही रहता है | ३१.

टिप्पणी: जब तक मनुष्य में 'मैं' का भाव है तब तक तो परमात्मा मनुष्य से परे ही रहता है | जब मनुष्य का 'मैं' का भाव मिट जाता है-वह शून्य बन जाता है, तभी एक परमात्मा को सर्वत्र देखता है |

आगे अध्याय १३ के श्लोक २३ की टिप्पणी देखिए |

हे अर्जुन! जो मनुष्य सबको अपने जैसा ही मान कर दूसरों के लिए भी सुख-दुःख का उतना ही अनुभव करता है जितना स्वयं अपने लिए करता है, वह श्रेष्ठ योगी माना जाता है | ३२.

[**टिप्पणी:** श्री शंकराचार्य कहते हैं कि किसी के साथ प्रतिकूल आचरण न करने वाला यह अहिंसक, समग्र दर्शननिष्ठ योगी समस्त योगियों में श्रेष्ठ है |-का.]

२०

अर्जुन बोले:

हे मधुसूदन! आपने यह जो समत्व-रूपी योग मुझे समझाया उसकी स्थिरता को मैं अपने मन की चंचलता के कारण समझ नहीं सकता! ३३.

क्योंकि हे कृष्ण! मन सचमुच ही चंचल है; वह बहुत बलवान और दृढ़ होने के कारण मनुष्य को मथ डालता है | जिस प्रकार वायु को दबाना अथवा रोकना बहुत कठिन है, उसी प्रकार मन को वश में करना भी मैं बहुत कठिन मानता हूँ | ३४.

श्री भगवान बोले:

हे महाबाहो! इसमें शंका ही नहीं कि मन के चंचल होने के कारण उसे वश में करना कठिन है | फिर भी है कौन्तेय! अभ्यास तथा वैराग्य से उसे भी वश में किया जा सकता है | ३५.

मेरा यह मत है कि जिसका मन अपने वश में नहीं है, उसके लिए योग की साधना बहुत कठिन है; परन्तु जिसका मन अपने वश में है और जो प्रयत्नशील है, वह उपायों द्वारा योग को सिद्ध कर सकता है | ३६.

अर्जुन बोले:

हे कृष्ण! जो श्रद्धावान तो है परन्तु प्रयत्न में शिथिल होने से योगभ्रष्ट हो जाता है, वह सफलता न मिलने के कारण कौन-सी गति प्राप्त करता है? ३७.

हे महाबाहो! योग से भ्रष्ट हुआ तथा ब्रह्म मार्ग में भटका हुआ ऐसा मनुष्य, बिखरे हुए बादल की तरह, दोनों ओर से भ्रष्ट होकर कहीं नष्ट तो नहीं हो जाता? ३८.

हे कृष्ण! मेरा यह संदेह आपको ही जड़मूल से दूर करना चाहिए | आपके सिवा दूसरा कोई मेरा यह संदेह मिटाने वाला मिल नहीं सकता | ३९.

श्री भगवान बोले:

हे पार्थ! ऐसे मनुष्य का नाश न तो इस लोक में होता और न परलोक में होता | हे तात! कल्याण मार्ग पर चलने वाले मनुष्य की कभी दुर्गति होती ही नहीं | ४०.

पुण्यशाली लोग जो स्थान प्राप्त करते हैं उस स्थान को प्राप्त करके वहाँ लम्बे समय तक रहने के बाद योगभ्रष्ट मनुष्य पवित्र और साधन-सम्पन्न पुरुष के घर जन्म लेता है | ४१.

अथवा वह ज्ञानवान योगियों के परिवार में ही जन्म लेता है, [यद्यपि] जगत में ऐसा जन्म अवश्य ही अति दुर्लभ है | ४२.

हे कुरुनंदन! वहाँ उसे पूर्वजन्म के बुद्धि-संस्कार प्राप्त होते हैं और वहाँ से वह मोक्ष के लिए आगे प्रगति करता है | ४३.

पहले के उसी अभ्यास के कारण वह योग के प्रति अवश्य आकर्षित होता है | योग की केवल जिज्ञासा रखने वाला पुरुष भी सकाम वैदिक कर्म करने वाले लोगों की स्थिति को पार कर जाता है | ४४.

इसके अतिरिक्त, लगन और निष्ठापूर्वक प्रयत्न करने वाला योगी [धीरे-धीरे] पापों से मुक्त होकर अनेक जन्मों में विशुद्ध होता हुआ परम गति को प्राप्त करता है | ४५.

तपस्वी की अपेक्षा योगी अधिक ऊँचा है; ज्ञानी से भी वह अधिक ऊँचा माना जाता है | उसी प्रकार कर्म-कांडी से भी वह अधिक ऊँचा है | इसलिए है अर्जुन! तू योगी बन! ४६.

टिप्पणी: यहाँ तपस्वी की तपस्या फल की इच्छा रखने वाली है; और ज्ञानी का अर्थ अनुभव-ज्ञानी नहीं परन्तु शास्त्र-पंडित है |

समस्त योगियों में भी को मुझे में मन को लीन करके श्रद्धापूर्वक मुझे भजता है, उसे मैं सर्वश्रेष्ठ योगी मानता हूँ | ४७.

ॐ तत्सत्

जो ब्रह्मविद्या भी है और योगशास्त्र भी है ऐसे इस

श्री भगवान द्वारा गाये गये उपनिषद् में आये हुए

श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद का 'ध्यानयोग' नामक

छठा अध्याय यहाँ समाप्त होता है |

७.

ज्ञान-विज्ञान-योग

इस अध्याय में ईश्वर-तत्त्व और ईश्वर-भक्ति का विवेचन आरंभ होता है |

२१

श्री भगवान बोले:

हे पार्थ! मुझ में मन को लगा कर तथा मेरा आश्रय लेकर योग की साधना करते हुए तू मुझे निश्चयपूर्वक और संपूर्ण रूप में कैसे पहचान सकता है, यह तू सून | १.

यह अनुभव-युक्त ज्ञान मैं तुझसे संपूर्ण रूप में कहूँगा | इसे जान लेने के बाद इस जगत में दूसरा कुछ जानने को बाकी नहीं रहता | २.

हजारों मनुष्यों में से कोई बिरला ही मनुष्य सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है | और, प्रयत्न करने वाले सिद्धों में से भी कोई बिरला ही मुझे यथार्थ रूप में पहचानता है | 3.

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंभाव-इस तरह मेरी प्रकृति आठ प्रकार की है | ४.

टिप्पणी: यह आठ तत्त्वों वाला स्वरूप क्षेत्र अथवा क्षर पुरुष है | देखिए अध्याय १३ का श्लोक ५; और अध्याय १५ का श्लोक १६ |

यह जो मैंने बताई वह अपरा प्रकृति है | इससे भी ऊँची जीवरूप परा प्रकृति है | हे महाबाहो! यह जगत उसीके आधार पर टिका हुआ है | ५.

इन दोनों प्रकृतियों को तू भूत मात्र की उत्पत्ति का कारण समझ समस्त जगत की उत्पत्ति और लय का कारण मैं हूँ | ६.

हे धनंजय! मुझसे श्रेष्ठ दूसरा कुछ नहीं है | जिस प्रकार धागे में मन के पिरोये हुए रहते है, उसी प्रकार यह सारा (विश्व) मुझ में पिरोया हुआ है | ७.

हे कौन्तेय! जल में मैं रस हूँ; सूर्य और चंद्र में मैं कांति हूँ; सब वेदों में मैं ॐकार हूँ; आकाश में मैं शब्द हूँ तथा पुरुषों का मैं पराक्रम हूँ | ८.

पृथ्वी में सुगंध मैं हूँ, अग्नि में तेज़ मैं हूँ; प्राणी मात्र का जीवन मैं हूँ और तपस्वी का तप मैं हूँ | ९.

हे पार्थ! तू मुझे सब जीवों का सनातन बीज जान; बुद्धिमानों की बुद्धि मैं हूँ, तेज़स्वियों का तेज़ भी मैं ही हूँ | १०.

बलवानों का काम और राग-रहित बल मैं हूँ, और हे भरतर्षभ! प्राणियों में धर्म का अविरोधी काम मैं हूँ | ११.

जो-जो सात्त्विक, राजस और तामस भाव अर्थात् पदार्थ हैं, उन सबको तू मुझसे उत्पन्न हुआ जान | परन्तु मैं उनमें हूँ ऐसा नहीं, वे मुझ में हैं | १२.

टिप्पणी: परमात्मा इन भावों पर निर्भर नहीं है, परन्तु ये भाव परमात्मा पर निर्भर हैं | ये भाव परमात्मा के आधार पर रहते हैं और उसके वश में हैं |

२२

इन तीन गुणों वाले भावों से सारा जगत मोहित है, इस कारण उनसे श्रेष्ठ तथा भिन्न मुझ अविनाशी को वह नहीं पहचानता | १३.

मेरी तीन गुणों वाली इस दैवी अर्थात् अद्‌भुत माया को पार करना कठिन है | परन्तु जो मनुष्य मेरी ही शरण लेते हैं, वे इस माया को पार कर जाते हैं | १४.

दुराचारी, मूढ़ और अधम मनुष्य मेरी शरण में नहीं आते | वे आसुरी भाव वाले होते हैं और माया द्वारा उनका ज्ञान हर लिया गया होता है | १५.

हे अर्जुन! चार प्रकार के सदाचारी मनुष्य मुझे भजते हैं: दु:खी, जिज्ञासु, किसी प्राप्ति की इच्छा रखने वाले हितार्थी और ज्ञानी | १६.

उनमें भी जो नित्य समभावि है और मुझ एक को ही भजने वाला है, वह ज्ञानी श्रेष्ठ है | मैं ज्ञानी को अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझे प्रिय है | १७.

ये सभी भक्त अच्छे हैं | उनमें भी ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है, ऐसा मेरा मत है; क्योंकि मुझे पाने से अधिक अच्छी दूसरी कोई गति है ही नहीं, ऐसा जानने वाला वह योगी मेरा ही आश्रय लेता है | १८.

यह सारा (विश्व) वासुदेव ही है, ऐसा अनेक जन्मों के अन्त में समझकर ज्ञानी पुरुष मेरी शरण लेता है |

ऐसा महात्मा विरला ही होता है | १९.

भिन्न भिन्न कामनाओं द्वारा जिनका ज्ञान हर लिया गया है वे लोग अपनी प्रकृति के वश होकर अलग-अलग विधियों का आश्रय लेते हैं और दूसरे देवताओं की शरण में जाते हैं | २०.

जो जो मनुष्य जिस जिस स्वरूप को श्रद्धा से भजना चाहता है, उस उस स्वरूप में मैं उसकी श्रद्धा को दृढ़ करता हूँ | २१.

ऐसी श्रद्धा के बल पर वह मनुष्य उस-उस स्वरूप की आराधना करता है और उसकी सहायता से मेरे द्वारा निर्मित तथा अपनी इच्छित कामनाएँ वह पूरी करता है | २२.

परन्तु उन अल्पबुद्धि वाले लोगों को जो फल मिलते हैं वे नाशवान होते हैं | देवों को भजने वाले मनुष्य देवों को प्राप्त करते हैं; और मुझे भजने वाले मुझे प्राप्त करते हैं | २३.

मेरे परम, अविनाशी और अनुपम स्वरूप को न जानने वाले बुद्धिहीन लोग मुझ इन्द्रियातीत को इन्द्रिय गम्य हुआ मानते हैं | २४.

अपनी योगमाया से ढंका हुआ मैं सबको प्रकट रूप में दिखाई नहीं देता! यह मूढ़ जगत मुझ अजन्म और अव्यय को भलीभाँति पहचानता नहीं है | २५.

टिप्पणी: इस दृश्य जगत को उत्पन्न करने की शक्ति रखते हुए भी अलिप्त होने के कारण परमात्मा का अदृश्य रहना योगमाया है |

हे अर्जुन! जो प्राणी अतीत में हो चूके हैं, जो वर्तमान में हैं तथा जो भविष्य में होने वाले हैं, उन सब प्राणियों को मैं जानता हूँ | परन्तु मुझे कोई नहीं जानता | २६.

२३

हे परंतप भारत! इच्छा और द्वेष से उत्पन्न हुए सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों के मोह के कारण सारे प्राणी इस जगत में भुलावे में पड़े रहते हैं | २७.

परन्तु सदाचारी होने के कारण जिन लोगों के पाप नष्ट हो गए हैं और जो सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों के मोह से छूट गए हैं, वे अचल व्रत वाले लोग मुझे भजते हैं | २८.

जो लोग मेरा आश्रय लेकर बुढ़ापे और मृत्यु से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं, वे पूर्ण ब्रह्म को, अध्यात्म को और संपूर्ण कर्म को जानते हैं | २९.

जिन लोगों ने अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ-युक्त मुझे पहचान लिया है, वे समत्व को प्राप्त किए हुए लोग मृत्यु के समय भी मुझे पहचानते हैं | ३०.

टिप्पणी: अधिभूत, अधिदैव आदि शब्दों का अर्थ आठवें अध्याय में दिया गया है |

इस श्लोक का आशय यह है कि इस जगत में ईश्वर के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है और सारे कर्मो का कर्ता और भोक्ता वही है, ऐसा समझ कर जो लोग मृत्यु के समय शान्त रहते हैं, ईश्वर में ही तन्मय रहते हैं तथा जिनके मन में उस समय कोई वासना नहीं होती, उन्होंने ईश्वर को पहचाना है और वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं |

ॐ तत्सत्

जो ब्रह्मविद्या भी है और योगशास्त्र भी है ऐसे इस

श्री भगवान द्वारा गाये गये उपनिषद् में आये हुए

श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद का 'ज्ञान-विज्ञान-योग'

नामक सातवाँ अध्याय समाप्त होता है |

८.

अक्षर-ब्रह्मयोग

इस अध्याय में ईश्वर-तत्त्व को अधिक समझाया गया है |

२४

अर्जुन बोले:

हे पुरुषोत्तम! उस ब्रह्म का स्वरूप क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत किसे कहते हैं? अधिदैव किसे कहा जाता है? १.

हे मधुसूदन! इस देह में अधियज्ञ क्या है और किस प्रकार है? और संयमी मनुष्य आप को मृत्यु के समय कैसे जान सकता है? २.

श्री भगवान बोले:

जो सर्वोत्तम अविनाशी है वह ब्रह्म है; प्राणी मात्र में जो अपनी सत्ता से रहता है व अध्यात्म है; और प्राणिमात्र को उत्पन्न करने वाला सृष्टि-व्यापार कर्म कहलाता है | 3.

अधिभूत मेरा नाशवान स्वरुप है | अधिदैव उसमें स्थित मेरा जीव-स्वरुप है | और हे मनुष्यों में श्रेष्ठ! अधियज्ञ इस देह में स्थित, किन्तु यज्ञ द्वारा शुद्ध बना हुआ, जीव-स्वरुप है | ४.

टिप्पणी: इसका अर्थ यह है कि अव्यक्त ब्रह्म से लेकर नाशवान दृश्य पदार्थ-मात्र परमात्मा ही है और सबकुछ उसीकी कृति है |

ऐसी स्थिति में मनुष्य-प्राणी कर्तापन का अभिमान रखने के बदले परमात्मा का दास बनकर सब-कुछ उसीको समर्पण क्यों न कर दे?

जो मनुष्य अन्त समय में मेरा ही स्मरण करते करते देह छोड़ता है, वह मेरे स्वरूप को प्राप्त करता है इसमें कोई संदेह नहीं | ५.

अथवा, हे कौन्तेय! मनुष्य जिस-जिस स्वरूप का ध्यान धरता है उस उस स्वरूप का अन्त समय में भी स्मरण करता हुआ वह देह छोड़ता है और उस भाव से सदा भावित अर्थात् पुष्ट होने के कारण-उसी स्वरूप में एकरूप हो चुका होने के कारण-उसी स्वरूप को प्राप्त करता है | ६.

अतः तू सदा मेरा स्मरण कर और (कर्मक्षेत्र में) जूझता रह; इस प्रकार मन और बुद्धि को मुझ में लगाए रखने से तू अवश्य ही मुझे प्राप्त करेगा | ७.

हे पार्थ! जो मनुष्य अभ्यास के द्वारा चित्त को स्थिर करके अन्यत्र कहीं दौड़ने नहीं देता और ध्यान में एकाग्र होता है, वह दिव्य परम पुरुष को प्राप्त करता है | ८.

जो पुरुष मरने के समय स्थिर मन से, भक्तियुक्त होकर तथा योगबल से प्राण को भृकुटि के बीच अच्छी तरह स्थापित करके सर्वज्ञ, पुरातन, नियंता, सूक्ष्मतम, सब का पालन करने वाले, अचिन्त्य, सूर्य के समान तेजस्वी तथा अज्ञान-रूपी अंधकार से परे रहने वाले स्वरूप का भलीभाँति स्मरण करता है, वह दिव्य परम पुरुष को प्राप्त करता है | ९-१०.

वेदों को जानने वाले जिसका अक्षर नाम से वर्णन करते हैं, वीतराग मुनि जिसमें प्रवेश करते हैं और जिसे प्राप्त करने की इच्छा से लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस पद का अब मैं तेरे लिए संक्षेप में वर्णन करूँगा | ११.

जो मनुष्य इन्द्रियों के समस्त द्वारों को बंद करके, मन को, हृदय में स्थिर करके, प्राण को मस्तक में धारण करके तथा समाधिस्थ होकर ॐ जैसे एकाक्षरी ब्रह्म का उच्चारण करते हुए और मेरा चिंतन करते हुए देह छोड़ता है, वह परम गति को प्राप्त करता है | १२-१३.

हे पार्थ! जो अन्यत्र कहीं चित्त को लगाए बिना नित्य तथा निरंतर मेरा ही स्मरण करता है, वह नित्य-युक्त योगी मुझे सहज ही प्राप्त करता है | १४.

मुझे प्राप्त करके परम गति को पहुँचे हुए महात्मा दुःख के घर जैसे आशाश्वत पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं करते | १५.

२५

हे कौन्तेय! ब्रह्मलोक से लेकर समस्त लोक बार बार जन्म लेने वाले हैं | परन्तु मुझे प्राप्त कर लेने के पश्चात् मनुष्य को फिर जन्म नहीं लेना पड़ता | १६.

जो लोग ब्रह्मा के हज़ार युगों वाले एक दिन को और ब्रह्मा की हज़ार युगों वाली एक रात्रि को जानते हैं, वे ही रात और दिन के जानने वाले हैं | १७.

टिप्पणी: इसका मतलब यह है कि हमारे चौबीस घँटो के रात-दिन इस कालचक्र के भीतर एक क्षण से भी सूक्ष्म हैं | उनकी कोई क़ीमत ही नहीं है | अतः उतने समय में मिलने वाले भोग आकाश-पुष्प जैसे हैं, यह समझ कर हम उनके बारे में उदासीन रहें; और उतना ही जो समय हमारे पास है, उसे भगवान की भक्ति में, सेवा में, बिता कर सार्थक बनाएँ तथा आज का आज ही यदि आत्मा का दर्शन न हो तो हम धीरज रखें |

(ब्रह्मा का) दिन उगने पर सब प्राणी अव्यक्त में से व्यक्त होते हैं और रात पड़ने पर उनका प्रलय होता है अर्थात् अव्यक्त में उनका लय हो जाता है | १८.

टिप्पणी: यह जानकर भी मनुष्य को समझना चाहिए कि उसके हाथ में बहुत कम सत्ता है | उत्पत्ति और नाश की जोड़ी साथ-साथ चलती ही रहित है |

हे पार्थ! इन प्राणियों का समुदाय इस प्रकार उत्पन्न हो होकर रात पड़ने पर विवशता से लय को प्राप्त होता है और दिन उगने पर विवशता से उत्पन्न होता है | १९.

इस अव्यक्त से परे दूसरा सनातन अव्यक्त-भाव है | सारे प्राणियों (भूतों) का नाश हो जाने पर भी इस सनातन अव्यक्त-भाव का नाश नहीं होता | २०.

जो अव्यक्त और अक्षर (अविनाशी) कहलाता है, उसीको परम गति भी कहते हैं | वह मेरे ऐसा परम धाम है, जिसे प्राप्त करने के बाद मनुष्यों का पुनर्जन्म नहीं होता | २१.

हे पार्थ! जिसके भीतर सारे भूत-सारे प्राणी-स्थित हैं और जिससे यह सारा (जगत) व्याप्त है, उस उत्तम पुरुष के दर्शन अनन्य भक्ति से होते हैं | २२.

२६

जिस काल में मृत्यु पाकर योगीजन मोक्ष को प्राप्त करते हैं और जिस काल में मृत्यु पाकर उनका पुनर्जन्म होता है, वे (दोनों) काल हे भरतर्षभ! मैं तुझे बताऊँगा |

उत्तरायण के छह महीनों में, शुक्लपक्ष में, दिन में जिस समय अग्नि की ज्वालाएँ उठ रही हों उस समय, जिन की मृत्यु होती है, वे ब्रह्म को जानने वाले मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त करते हैं | २४.

दक्षिणायन के छह महिनों में कृष्णपक्ष में, रात में, जब धुआँ फैला हुआ हो उस समय, मरने वाले मनुष्य चंद्रलोक को प्राप्त करके पुनर्जन्म पाते हैं | २५.

टिप्पणी: ऊपर के दो श्लोकों के शब्दार्थ का गीता की शिक्षा के साथ मेल नहीं बैठता | उस शिक्षा के अनुसार तो जो भक्तिभाव से परिपूर्ण है, जो सेवामार्ग के अनुसार करता है और जिसे ज्ञान हो गया है, वह किसी भी समय क्यों न मरे उसे मोक्ष ही प्राप्त होता है | इन दो श्लोकों का शब्दार्थ गीता की इस शिक्षा के विरुद्ध है |

इन श्लोकों का भावार्थ यह जरूर निकल सकता है कि जो लोग यज्ञ करते हैं अर्थात् जो परोपकार में ही जीवन बिताते हैं, जिन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया है, जो ब्रह्मविद् अर्थात् ज्ञानी हैं, उनकी मृत्यु के समय भी यदि ऐसी स्थिति रहे तो वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं | इसके विपरीत, जो यज्ञ नहीं करते, जिन्हें ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, जो भक्ति को नहीं जानते, वे चंद्रलोक को अर्थात् क्षणिक लोक को प्राप्त करके पुन: संसार के चक्र में लौट आते हैं | चंद्र के पास उसका अपना प्रकाश नहीं होता |[१]

जगत में प्रकाश का और अन्धकार का, अर्थात् ज्ञान का और अज्ञान का मार्ग-ये दो अत्यन्त प्राचीन काल से चलते आए सदा के मार्ग माने गए हैं | इनमें से एक मार्ग से अर्थात् ज्ञान के मार्ग से मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करता है; और दूसरे मार्ग से अर्थात् अज्ञान के मार्ग से वह बार-बार पुनर्जन्म प्राप्त करता है | २६.

हे पार्थ! इन दोनों मार्गों को जानने वाला कोई भी योगी मोह में नहीं पड़ता | इसलिए हे अर्जुन! तू सदा योगयुक्त रहना | २७.

टिप्पणी: यहाँ मोह में न पड़ने का अर्थ यह है कि दोनों मार्गों को जानने वाला और समभाव रखने वाला योगी अन्धकार का-अज्ञान का मार्ग नहीं लेगा |

यह वस्तु जान लेने के बाद योगी पुरुष वेदों में, यज्ञ में, तप में तथा दान में जो पुण्यफल कहा गया है, उस सबको पार करके उत्तम आदिस्थान को प्राप्त करता है | २८.

टिप्पणी: इसलिए जिसने ज्ञान, भक्ति और सेवाकार्य से समभाव प्राप्त कर लिया है, उसे सारे पुण्यों फल मिल जाता है; इतना ही नहीं, परन्तु उसे परम मोक्षपद प्राप्त होता है |

ॐ तत्सत्

जो ब्रह्मविद्या भी है और योगशास्त्र भी है ऐसे इस

श्री भगवान द्वारा गाये गए उपनिषद में आए हुए श्रीकृष्ण

तथा अर्जुन के संवाद का 'अक्षर-ब्रह्मयोग' नामक आठवाँ

अध्याय यहाँ समाप्त होता है |

---

१. उत्तरायण और शुक्लपक्ष निष्काम सेवा का मार्ग है तथा दक्षिणायन और कृष्णपक्ष स्वार्थ का मार्ग है | सेवा के मार्ग में मुक्ति प्राप्त होती है और स्वार्थ के मार्ग में बन्धन प्राप्त होता है | सेवा का मार्ग ज्ञानमार्ग है |

स्वार्थ का मार्ग अज्ञान-मार्ग है | ज्ञानमार्ग पर चलनेवाले को मोक्ष प्राप्त होता है | अज्ञान-मार्ग पर चलने वाले को बन्धन प्राप्त होता है | इन दोनों मार्गो को जानने के बाद मोह में रहकर अज्ञान-मार्ग को कौन पसंद करेगा?

इतना जान लेने के बाद मनुष्य को चाहिए कि वह समस्त पुण्यफलों को छोड़कर, अनासक्त रहकर तथा कर्तव्य में ही लीन रहकर उत्तम स्थान प्राप्त करने का ही प्रयत्न करे |

- गीताबोध

९.

राजविद्या-राजगुह्य-योग

इस अध्याय में भक्ति की महिमा गाई गई है |

२७

श्री भगवान बोले:

तू ईर्ष्या करने वाला दोषदर्शी नहीं है, इसलिए मैं तुझे गूढ़ से गूढ़ अनुभव वाला ज्ञान दूँगा, जिसे जानकार, तू अकल्याण से बच जाएगा | १.

यह ज्ञान समस्त विद्याओं का राजा है; गूढ़ वस्तुओं में भी श्रेष्ठ है | यह विद्या पवित्र है, उत्तम है, प्रत्यक्ष अनुभव में आने जैसी है और धर्म के अनुकूल है | साथ ही, यह विद्या आचरण में उतारने में सरल और अविनाशी है | २.

हे परंतप! इस धर्म में जिनकी श्रद्धा नहीं है, वे लोग मुझे न पाकर मृत्युमय संसार-मार्ग में बार-बार लौटते रहते हैं | 3.

मैंने ही अपने अव्यक्त स्वरूप से इस संपूर्ण जगत को व्याप्त कर लिया है | सारे प्राणी मुझ में-मेरे आधार पर-हैं; मैं उनके आधार पर नहीं हूँ | ४.

फिर भी प्राणी मुझ में नहीं है, ऐसा भी कहा जा सकता है | मेरे इस योगबल को तू देख | मैं समस्त जीवों का भरण-पोषण करने वाला हूँ, फिर भी मैं उनमें नहीं हूँ | परन्तु मैं उनका उत्पत्ति-कारण हूँ | ५.

टिप्पणी: मुझ में सब जीव हैं और नहीं हैं | मैं उनमें हूँ ओर नहीं हूँ | यह है ईश्वर का योगबल, उसकी माया, उसका चमत्कार | ईश्वर का वर्णन भगवान श्रीकृष्ण को भी मनुष्य की भाषा में ही करना पड़ता है, अतः वे अनेक प्रकार के भाषा-प्रयोग करके मनुष्य को संतुष्ट करते है | सब-कुछ

ईश्वरमय है, इसलिए सब-कुछ ईश्वर में है | ईश्वर अलिप्त है, प्राकृत कर्ता नहीं है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि जीव उसमें नहीं हैं | परन्तु जो मनुष्य ईश्वर के भक्त हैं, उनमें तो वह है ही | जो लोग नास्तिक हैं, उनमें उनकी दृष्टि से ईश्वर नहीं है | यह सब यदि ईश्वर का चमत्कार ही नहीं है, तो दूसरा इसे क्या कहेंगे?

जिस प्रकार सब जगह विचरने वाली महान वायु नित्य आकाश में विद्यमान ही रहती है, उसी प्रकार समस्त प्राणी मुझ में हैं ऐसा तू जान | ६.

हे कौन्तेय! कल्प के अन्त में सारे प्राणियों का मेरी प्रकृति में लय हो जाता है; कल्प का पुनः आरंभ होने पर मैं पुनः उनका सर्जन करता हूँ | ७.

प्रकृति के अधीन होने के कारण परवश बने हुए प्राणियों के इस संपूर्ण समुदाय को, अपनी ही माया-प्रकृति को हाथ में लेकर, मैं बार-बार उत्पन्न करता हूँ | ८.

हे धनंजय! ये कर्म मुझे बन्धन में नहीं बांधते, क्योंकि में उनके प्रति उदासीन जैसा और अनासक्त रहता हूँ | ९.

मेरी देखरेख में प्रकृति स्थावर और जंगम जगत को उत्पन्न करती है और इस कारण से, हे कौन्तय! जगत (रहंट की घटमाला की तरह) घूमता रहता है | १०.

२८

प्राणियों आदि भूत मात्र के महेश्वर-रूप मेरे श्रेष्ठ भाव को न जानने के कारण मूर्ख लोग मनुष्य का रूप धारण किए होने से मेरी अवगणना करते हैं | ११.

टिप्पणी: क्योंकि जो मनुष्य ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते, वे देह में स्थित अंतर्यामी को पहचानते नहीं और उसके अस्तित्व से इनकार करके जड़वादी बने रहते हैं |

मोह उत्पन्न करने वाली ऐसी राक्षसी अथवा आसुरी प्रकृति का आसरा लिए हुए इन उलटी बुद्धि के लोगों की आशाएँ, इनके कर्म और इनका ज्ञान सब व्यर्थ सिद्ध होता है | १२.

इसके विपरीत, हे पार्थ! भूत मात्र के आदि-कारण और अविनाशी मुझे जानकर महात्मा लोग दैवी प्रकृति का आश्रय लेते हैं और एकनिष्ठा से मुझे भजते हैं | १३.

दृढ़ निश्चय के साथ प्रयत्न करनेवाले ये महात्मा निरंतर मेरा कीर्तन करते हैं, भक्तिपूर्वक मुझे प्रणाम करते हैं और नित्य ध्यान धर कर मेरी उपासना करते हैं | १४.

और दूसरे लोग अद्वैत-रूप में, द्वैत-रूप में अथवा अनेक-रूप में सर्वत्र विद्यमान मुझे ज्ञानयज्ञ के द्वारा पूजते हैं | १५.

[ऐसे] यज्ञ का संकल्प मैं हूँ, वह यज्ञ मैं हु, यज्ञ के द्वारा पितरों का आधार मैं हूँ, यज्ञ की वनस्पति मैं हूँ, मंत्र मैं हूँ, घी की आहुति मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवन-द्रव्य भी मैं हूँ| १६.

इस जगत का पिता मैं हूँ, माता मैं हूँ, धारण करने वाला मैं हूँ, पितामह मैं हूँ, जानने योग्य पवित्र ॐकार मैं हूँ तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ| १७.

(सब का) अंतिम स्थान मैं हूँ, पोषक मैं हूँ, स्वामी मैं हूँ, साक्षी मैं हूँ, निवास मैं हूँ, आश्रय मैं हूँ, हित चाहने वाला मैं हूँ, उत्पत्ति मैं हूँ, स्थिति मैं हूँ, नाश मैं हूँ, भण्डार मैं हूँ और अव्यय बीज भी मैं हूँ| १८.

धूप मैं देता हूँ, वर्षा को मैं ही रोक कर रखता हूँ अथवा बरस ने देता हूँ| अमरता मैं हूँ, मृत्यु मैं हूँ, और हे अर्जुन! सत् और असत् भी मैं ही हूँ| १९.

२९

तीन वेदों के कर्म करके, सोमरस का पान करके पाप-रहित बने हुए जन यज्ञ के द्वारा मुझे पूज कर स्वर्गलोक की याचना करते हैं | और पुण्य से मिलने वाले इन्द्रलोक को प्राप्त करके वे स्वर्ग में दिव्य भोग भोगते हैं | २०.

टिप्पणी: यहाँ इस बात का उल्लेख है कि समस्त वैदिक क्रियाएँ फलप्राप्ति के लिए होती थीं और उनमें से कुछ क्रियाओं में सोमरस का पान किया जाता था | वे क्रियाएँ क्या थीं, सोमरस क्या था, यह आज वस्तुतः कोई नहीं कह सकता |

उस विशाल स्वर्गलोक का उपभोग करने के बाद पुण्य क्षीण होने पर वे जन पुनः मृत्युलोक में प्रवेश करते हैं | इस प्रकार तीन वेदों के कर्म करने वाले, फल के लोभियों को जन्म-मरण के फेरे फिरने पड़ते हैं | २१.

जो लोग अनन्य भाव से मेरा चिंतन करते हुए मुझे भजते हैं, ऐसे नित्य मुझ में ही रत रहनेवाले जनों के योग-क्षेम का भार मैं उठाता हूँ| २२.

टिप्पणी: इस प्रकार योगी को पहचान ने के तीन सुंदर लक्षण हैं-समत्व, कर्म में कुशलता और अनन्य भक्ति | ये तीनों एक-दूसरे में ओतप्रोत होने चाहिए | भक्ति के बिना समत्व प्राप्त नहीं होता, समत्व के बिना भक्ति प्राप्त नहीं होती और कर्म-कुशलता के बिना भक्ति और समत्व का आभास-मात्र होने का भय रहता है |

योग-क्षेम शब्द में योग का अर्थ है प्राप्त न हुई वस्तु को प्राप्त करना और क्षेम का अर्थ है प्राप्त हुई वस्तु को संभाल कर रखना | इसके सिवा, हे कौन्तेय! जो लोग श्रद्धापूर्वक दूसरे देवों को भजते हैं वे भी, भले विधि के बिना ही क्यों न हो, मुझे ही भजते हैं | २३.

टिप्पणी: विधि के बिना का अर्थ है अज्ञान में, मुझे निरंजन निराकार न जानकर | मैं ही समस्त यज्ञों का उपभोग करने वाला स्वामी हूँ | परन्तु इस प्रकार वे मुझे अपने सच्चे स्वरूप में नहीं जानते, इसलिए नीचे गिरते हैं | २४.

देवताओं का पूजन करने वाले लोग देवलोकों को प्राप्त करते हैं, पितरों का पूजन करने वाले पितृलोक को प्राप्त करते हैं, भूत-प्रेत आदि का पूजन करने वाले भूतगणों के लोकों को प्राप्त करते हैं और मुझे भजने वाले लोग मुझे प्राप्त करते हैं | २५.

३०

जो मनुष्य मुझे भक्तिभाव से पत्र, पुष्प, फल या जल अर्पण करता है, उस शुद्ध-हृदय मनुष्य की भक्तिभाव से अर्पण की हुई वस्तु का मैं सेवन करता हूँ | २६.

टिप्पणी: अर्थात् जो कुछ ईश्वर-प्रीत्यर्थ सेवाभाव से प्राणियों को दिया जाता है, उसे उन प्राणियों में निवास करने वाले अंतर्यामी के रूप में भगवान ही स्वीकार करता है |

इसलिए हे कौन्तेय! तू जो करे, जो खाए, जो हवन में होमे, जो दान में दे अथवा जो तप करे, वह सब तू मुझे अर्पण कर | २७.

इससे तू शुभ-अशुभ फल देने वाले कर्म के बन्धन से छूट जाएगा और फलत्याग-रूपी समत्व को प्राप्त करके, जन्म-मरण से मुक्त हो कर मुझे प्राप्त करेगा | २८.

सब प्राणियों में मैं समभाव से रहता हूँ | मुझे कोई प्रिय अथवा अप्रिय नहीं है | फिर भी जो लोग मुझे भक्तिभाव से भजते हैं, वे मुझ में हैं और मैं भी उनमें हूँ | २९.

अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी यदि अनन्य भाव से मुझे भजे, तो उसे साधु बना हुआ ही मानना चाहिए; क्योंकि अब उसका संकल्प शुभ है | ३०.

टिप्पणी: कारण, अनन्य भक्ति दुराचार को मिटा देती है |

वह तुरन्त धर्मात्मा बन जाता है और निरंतर शांति प्राप्त करता है | हे कौन्तेय! तू यह निश्चयपूर्वक जानना कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता | ३१.

हे पार्थ! जो लोग मेरा आश्रय लेते हैं, वे पापयोनि हों अथवा स्त्रियाँ, वैश्य या शुद्र हों, वे परम गति को प्राप्त करते हैं | तब फिर पुण्यवान और भक्त ब्राह्मणों तथा राजर्षियों के विषय में तो कहना ही क्या?

इसलिए इस अनित्य और सुख-रहित लोक में जन्म लेकर तू मुझे भज? तू मुझ में मन को लगा, मेरा भक्त बन, मेरे निमित्त से यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर | इससे तू अपने-आपको मेरे साथ जोड़कर, मुझ में परायण होकर, मुझे ही श्रेष्ठ स्थान मानकर मुझे प्राप्त करेगा | ३२-३३-३४.

ॐ तत्सत्

जो ब्रह्मविद्या भी है और योगशास्त्र भी है ऐसे इस

श्री भगवान द्वारा गाये गये उपनिषद में आये हुए श्रीकृष्ण

और अर्जुन के संवाद का 'राजविद्या-राजगुह्य-योग' नामक

नवाँ अध्याय यहाँ समाप्त होता है |

१०.

विभूति-योग

सातवें, आठवें और नवें अध्याय में भक्ति आदि का निरूपण करने के बाद इस अध्याय में भगवान अपनी अनन्त विभूतियों का थोड़ासा दिग्‌दर्शन भक्तों के लाभ के लिए कराते हैं |

३१

श्री भगवान बोले:

हे महाबाहो! फिर एक बार तू मेरा परम वचन सुन | यह वचन मैं तुझ प्रियजन को तेरे हित के लिए कहूँगा | १.

देव और महर्षि मेरी उत्पत्ति को अथवा प्रभाव को नहीं जानते, क्योंकि मैं ही देवों का और महर्षियों का सब प्रकार से आदि- कारण हूँ | २.

अजन्म और अनादी मैं ही सब लोगों का महेश्वर हूँ-ऐसा जो जानते है वे मनुष्यों के बीच मोह-रहित होकर सारे पापों से मुक्त हो जाते हैं | ३.

बुद्धि, ज्ञान, अमूढ़ता, क्षमा, सत्य इन्द्रिय-निग्रह, शांति, सुख, दुःख, उत्पत्ति और नाश, भय और अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश, अपयश-इस प्रकार प्राणियों के अलग अलग भाव मुझसे उत्पन्न होते हैं | ४-५.

[**टिप्पणी:** भाव का अर्थ है पदार्थ, वृत्ति या अवस्था |-का.]

सप्तर्षि, उनके पूर्व के चार सनकादि और (चौदह) मनु मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए हैं और उनसे सब प्राणी इस जगत में उत्पन्न हुए हैं | ६.

जो मेरी इस विभूति को और सामर्थ्य को यथार्थ रूप में जानता है, वह अविचल समता को प्राप्त करता है इसमें संदेह नहीं | ७.

मैं सब की उत्पत्ति का कारण हूँ और सब-कुछ मेरे द्वारा ही चलता है, ऐसा जानकर सयाने लोग भक्तिभाव से मुझे भजते हैं | ८.

मुझ में चित्त को एकाग्र करने वाले, मुझे प्राण अर्पण करने वाले लोग एक-दूसरे को बोध देते हुए, नित्य मेरा ही कीर्तन करते हुए, संतोष और आनंद में रहते हैं | ९.

इस प्रकार मुझ में तन्मय रहने वाले और प्रेम के साथ मुझे भजने वाले लोगों को मैं बुद्धिशक्ति और ज्ञान देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त करते हैं | १०.

उन पर अनुग्रह करके, उनके हृदय में बसा हुआ मैं ज्ञानरूपी प्रकाशमय दीपक से उनके अज्ञान-रूपी अँधकार का नाश करता हूँ | ११.

३२

अर्जुन बोले:

हे भगवान! आप परम-ब्रह्म हैं, परम-धाम हैं, परम-पवित्र हैं | समस्त ऋषिगण, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास आपको अविनाशी, दिव्य-पुरुष, आदि देव अजन्म और सर्वव्यापी कहते हैं | और आप स्वयं भी मुझे ऐसा ही कहते हैं | १२-१३.

हे केशव! आप मुझसे जो कहते हैं उसे मैं स्वीकार करता हूँ | हे भगवान ! आपके स्वरूप को न तो देवता जानते और न दानव जानते | १४.

हे पुरुषोत्तम! हे जीवों के पिता! हे जीवेश्वर! हे देवों के देव! हे जगत के स्वामी! आप स्वयं ही अपने द्वारा अपने को जानते हैं | १५.

जिन विभूतियों के द्वारा आप इन लोकों में व्याप्त हैं, वे आपकी दिव्य विभूतियाँ कृपा करके मुझे पूरी तरह बताइए | १६.

हे योगिन्! आपका नित्य चिंतन करते हुए मैं आपको किस तरह पहचान सकता हूँ? हे भगवान! किस किस रूप में मुझे आपका चिंतन करना चाहिए? १७.

हे जनार्दन! आप अपनी शक्तियों और विभूतियों का वर्णन मेरे सामने फिर से विस्तार के साथ कीजिए | आपकी अमृतमयी वाणी सुनते सुनते मुझे तृप्ति ही नहीं होती | १८.

श्री भगवान बोले:

अच्छा, तो मैं अपनी मुख्य मुख्य विभूतियाँ तुझे बताऊँगा | परन्तु हे कुरुश्रेष्ठ! मेरे विस्तार का अन्त तो है ही नहीं | १९.

हे गुडाकेश! मैं सब प्राणियों के हृदय में बसी हुई आत्मा हूँ | मैं ही सारे भूतों का आदि, मध्य और अन्त हूँ | २०.

आदित्यों में मैं विष्णु हूँ, ज्योतियों में मैं जगमगाता सूर्य हूँ, वायुओं में मैं मरीचि हूँ, नक्षत्रों के बीच मैं चन्द्र हूँ | २१.

वेदों में सामवेद मैं हूँ, देवों में इन्द्र मैं हूँ, इन्द्रियों में मन मैं हूँ और प्राणियों का चेतन भी मैं हूँ |२२.

रुद्रों में मैं शंकर हूँ, यक्षों और राक्षसों में मैं कुबेर हूँ, वसुओं में मैं अग्नि हूँ, पर्वतो में मैं मेरु पर्वत हूँ | २३.

हे पार्थ! पुरोहितों में तू मुझे मुख्य बृहस्पति जान | सेनापतियों में मैं कार्तिक-स्वामी हूँ और सरोवरों में मैं सागर हूँ | २४.

महर्षियों में मैं भृगु हूँ, वाणी में मैं एकाक्षरी ॐ हूँ, यज्ञों में मैं जपयज्ञ हूँ और स्थावरों में मैं हिमालय हूँ | २५.

सारे वृक्षों में अश्वत्थः (पीपल) मैं हूँ, देवर्षियों में नारद मैं हूँ, गंधर्वों में चित्ररथ मैं हूँ और सिद्धों में कपिल मुनि मैं हूँ | २६.

अश्वों में तू मुझे अमृत-मंथन के समय उत्पन्न हुआ उच्चैःश्रवा जान | हाथियों में मैं ऐरावत हूँ और मनुष्यों में मैं राजा हूँ| २७.

आयुधों में वज्र मैं हूँ, गायों में कामधेनु मैं हूँ, संतान की उत्पत्ति का कारण कामदेव मैं हूँ तथा साँपों में वासुकी मैं हूँ| २८.

नागों में शेषनाग मैं हूँ, जलचरों में वरुण मैं हूँ, पितरों में अर्यमा मैं हूँ और नियमन में रखने वालों में यम मैं हूँ| २९.

दैत्यों में प्रह्लाद मैं हूँ, गिनने वालों में काल मैं हूँ, पशुओं में सिंह मैं हूँ और पक्षियों में गरुड मैं हूँ| ३०.

पावन करने वालों में पवन मैं हूँ, शस्त्रधारियों में (परशु) राम मैं हूँ, मछलियों में मगरमच्छ मैं हूँ और नदियों में गँगा मैं हूँ| ३१.

हे अर्जुन! सृष्टियों का आरंभ, अन्त और मध्य मैं हूँ, विद्याओं में अध्यात्म-विद्या मैं हूँ और विवाद करने वालों का वाद मैं हूँ| ३२.

अक्षरों में अकार मैं हूँ, समासों में द्वंद्व समास मैं हूँ, अनश्वर काल मैं हूँ और सब ओर अभिमुख रहने वाला विधाता भी मैं हूँ| ३३.

सबका हरण करने वाली मृत्यु मैं हूँ, भविष्य में उत्पन्न होने वालों का उत्पत्ति-कारण मैं हूँ और स्त्रीजाति के नामों में कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, मेधा (बुद्धि), धृति (धीरज) तथा क्षमा मैं हूँ| ३४.

सामों में बृहत् सामस्तोत्र मैं हूँ, छंदो में गायत्री छंद मैं हूँ, मासों में मार्गशीर्ष मास मैं हूँ और ऋतुओं में वसंत ऋतु मैं हूँ| ३५.

छल करने वालों का द्यूत (जुआ) मैं हूँ, प्रतापी पुरुष का प्रभाव मैं हूँ, विजय मैं हूँ, निश्चय मैं हूँ तथा सात्त्विक भाव वाले का सत्त्व मैं हूँ| ३६.

टिप्पणी: 'छल करने वालों का द्यूत मैं हूँ'-इस वचन से चौंकने की ज़रूरत नहीं है | यहाँ सार-असार का निर्णय नहीं है, परन्तु कहने का तात्पर्य यह है कि जो कुछ होता है वह ईश्वर की संमति के बिना नहीं होता |

और, छल करने वाला मनुष्य भी यह जानकर अपना अभिमान छोड़ दे और छल-कपट को त्याग दे कि सब-कुछ ईश्वर के वश में हैं |

यादव-कुल में वासुदेव मैं हूँ, पाण्डवों में धनंजय (अर्जुन) मैं हूँ, मुनियों में व्यास मैं हूँ और क्रांतदर्शी कवियों में उशना (शुक्राचार्य) मैं हूँ | ३७.

राज्य करने वालों का दण्ड मैं हूँ, जय चाहने वालों की नीति मैं हूँ, गोपनीय बातों में मौन मैं हूँ और ज्ञानवान लोगों का ज्ञान मैं हूँ | ३८.

हे अर्जुन! सारे प्राणियों की उत्पत्ति का जो बीज है वह मैं हूँ | जो भी स्थावर या जंगम है, वह मुझसे रहित नहीं हैं | ३९.

हे परंतप! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है | अपनी विभूतियों का इतना विस्तार तो मैंने केवल उदाहरण के रूप में ही तुझसे कहा है | ४०.

जो कुछ भी विभूति-युक्त, लक्ष्मीवान अथवा प्रभावशाली है, उसे तू मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुआ जान | ४१.

अथवा हे अर्जुन! यह सब विस्तार से जानकर तू क्या करेगा? अपने एक ही अंश से इस संपूर्ण जगत को मैं धारण किए हुए हूँ | ४२.

ॐ तत्सत्

जो ब्रह्मविद्या भी है और योगशास्त्र भी है ऐसे इस

श्री भगवान द्वारा गाये गये उपनिषद् में आये हुए श्रीकृष्ण

और अर्जुन के संवाद का 'विभूति-योग' नामक दसवाँ

अध्याय यहाँ समाप्त होता है |

११.

विश्वरूप-दर्शन-योग

इस अध्याय में भगवान अपना विराट स्वरूप अर्जुन को बताते हैं | भक्तों को यह अध्याय अत्यन्त प्रिय है | इसमें तर्क नहीं है, परन्तु केवल काव्य है | इस अध्याय का पाठ करते हुए भक्त कभी थकता ही नहीं |

३३

अर्जुन बोले:

आपने मुझ पर कृपा करके यह आध्यात्मिक परम रहस्य मुझे बताया है | आपने जो वचन मुझसे कहे हैं, उनसे मेरा यह मोह दूर हो गया है | १.

मैंने समस्त भूतों की उत्पत्ति और नाश के बारे में आपके मुख से विस्तारपूर्वक सुना तथा हे कमलपत्राक्ष! आपका अविनाशी माहात्म्य भी मैंने सुना | २.

हे परमेश्वर! हे पुरुषोत्तम! आप जिस रूप में अपना परिचय कराते हैं, आपके उसी ईश्वरीय रूप के दर्शन करने की मेरी इच्छा होती है | ३.

हे प्रभो! मेरे लिए यदि आप उस रूप का दर्शन करना संभव मानते हों, तो हे योगेश्वर! मुझे आप अपने उस अव्यय-अविनाशी-रूप का दर्शन कराइये | ४.

श्री भगवान बोले:

हे पार्थ! मेरे अनेक प्रकार के, दिव्य तथा विभिन्न रंगों और आकारोंवाले सैंकड़ो-हजारों रूपों को तू देख | ५.

हे भारत! तू आदित्यों, वसुओं, रुद्रो, दोनों अश्विनी-कुमारों तथा मरुतों को देख | पहले नहीं देखे गए बहुतेरे आश्चर्यों को तू देख | ६.

हे गुडाकेश! यहाँ मेरे शरीर में एकरूप में स्थित समस्त स्थावर और जंगम जगत तथा दूसरा जो भी तू देखना चाहे वह सब आज तू देख | ७.

परन्तु तू अपने इन चर्म-चक्षुओं से मुझे नहीं देख सकेगा | इसलिए मैं तुझे दिव्य चक्षु देता हूँ | उन चक्षुओं की सहायता से तू मेरा ईश्वरीय योग-सामर्थ्य देख | ८.

संजय बोले:

हे राजन्! ऐसा कहकर महायोगेश्वर कृष्ण ने अर्जुन को अपना परम ईश्वरीय रूप दिखाया | ९.

वह अनेक मुखों और आँखों वाला, अनेक अद्‌भुत दर्शनों वाला, अनेक दिव्य आभूषणों वाला तथा धारण किए हुए अनेक दिव्य शस्त्रों वाला रूप था | १०.

उन्होंने अनेक दिव्य मालाएँ और वस्त्र धारण किए थे और अनेक दिव्य सुगंधित लेप लगाए थे | ऐसे वे सब प्रकार से आश्चर्यपूर्ण, अनंत और सर्वव्यापी देव थे | ११.

आकाश में एक हजार सूर्यों का तेज़ यदि एकसाथ चमक उठे, तो वह तेज़ शायद उन महात्मा के तेज़ जैसा हो | १२.

पांडव ने उन देवों के देव के शरीर में अनेक प्रकार से बँटे हुए समस्त जगत को एकरूप में स्थित देखा | १३.

उसके बाद, आश्चर्य से चकित तथा रोमांचित बने हुए धनंजय माथा नवाकर और हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले | १४.

३४

अर्जुन बोले:

हे देव, आपके शरीर में मैं समस्त देवों का, विभिन्न प्रकार के सब प्राणियों के समुदायों को, कमल के आसन पर बिराजे हुए ईश ब्रह्मा को, सारे ऋषियों को तथा दिव्य सर्पों को देखता हूँ |

१५.

आपको मैं अनेक हाथ, पेट, मुहँ और आँखों वाला तथा सब ओर अनंत रूपों वाला देखता हूँ | हे विश्वेश्वर! हे विश्वरूप! मैं न तो आपका अन्त देखता, न आपका मध्य देखता और न ही आपका आरंभ देखता | १६.

मैं आपको मुकुटधारी, गदाधारी, चक्रधारी, तेज़ का पुँज, सब दिशाओं में जगमगाती ज्योति वाला, कठिनाई से देखे जाने योग्य, अमर्यादित तथा प्रज्वलित अग्नि अथवा सूर्य के समान सब दिशाओं में प्रकाशमान देखता हूँ | १७.

मेरा यह विश्वास है कि आप ही जानने योग्य परम अक्षर और अविनाशी और अविनाशी हैं | आप ही इस जगत के अंतिम आधार हैं, धर्म के अविनाशी रक्षक हैं और आप ही सनातन पुरुष हैं | १८.

जिनका आदि, मध्य या अन्त नहीं है, जिनकी शक्ति अनंत है, जिनकी अनंत भुजाएँ हैं, जिनकी सूर्य-चंद्र-रूपी आँखें हैं, जिनका मुख प्रज्वलित अग्नि के समान है और जो अपने तेज़ से इस जगत को तपाते हैं-ऐसे आपको मैं देखता हूँ | १९.

आकाश और पृथ्वी के बीच अन्तर को तथा सारी दिशाओं को आपने अकेले ही व्याप्त कर लिया है | हे महात्मन्! आपके इस अद्भुत उग्र रूप को देखकर तीनों लोक थर थर काँपते हैं |

२०.

और देखिए, यह देवों का संघ आप में प्रवेश कर रहा है | भयभीत बने हुए कुछ देव तो हाथ जोड़कर आपका स्तवन कर रहे हैं | महर्षियों और सिद्धों के समूह '(जगत का) कल्याण हो' कहते हुए अनेक प्रकार से आपका यशोगान करते हैं | २१.

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुत्गण, उष्ण ही पीने वाले पितर तथा गंधर्वों, यक्षों, असुरों और सिद्धों के संघ-ये सभी आश्चर्य से चकित होकर आपको देख रहे हैं |

२२.

[**टिप्पणी:** 'शरीर की उष्णता बनी रहे तभी तक शरीर में प्राण टिक सकते हैं | यह उष्णता हम अन्न से प्राप्त करते हैं | सूक्ष्म शरीर वाले पितर प्रत्यक्ष अन्न नहीं खा सकते, परन्तु उसकी उष्णता ही सीधी पी लेते हैं, ऐसी मान्यता उस समय रही होगी | इसलिए यहाँ पितरों को 'उष्मपा' कहा गया है | -का.]

हे महाबाहो! अनेक मुखों और आँखों वाला, अनेक हाथों, जाँघों और पैरों वाला, अनेक पेटों वाला तथा अनेक दाढ़ों के कारण विकराल दिखाई देने वाला आपका यह विराट रूप देखकर सारे लोक व्याकुल हो गए हैं | और मैं भी व्याकुल हो गया हूँ | २३.

आकाश को छूने वाले, जगमगाते, अनेक रंगों वाले, खुले मुखों वाले तथा विशाल तेजस्वी आँखोंवाले आपको देखकर, हे विष्णु! मेरा हृदय व्याकुल हो गया है और मैं धीरज या शांति नहीं रख पाता | २४.

प्रलय-काल की अग्नि के समान प्रज्वलित और विकराल दाढ़ों वाले आपके ये मुँह देखकर मुझे न तो दिशाएँ दिखाई पड़ती और न शांति प्राप्त होती | इसलिए हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइये | २५.

सारे राजाओं के समूह-सहित धृतराष्ट्र के ये पुत्र, भीष्म, द्रोणाचार्य, यह सारथि-पुत्र कर्ण और हमारे प्रमुख योद्धागण-सभी विकराल दाढ़ों वाले आपके भयानक मुखों में तेज़ गति से प्रवेश कर रहे हैं | कुछ लोगों के सिर चूर-चूर होकर आपके दाँतों के बीच चिपके हुए दिखाई देते हैं |

२६-२७.

जिस प्रकार नदियों के अनेक बड़े प्रवाह समुद्र की ओर तेज़ गति से दौड़ते हैं, उसी प्रकार ये लोक-नायक आपके धधकते हुए मुखों में तेज़ गति से प्रवेश करते हैं | २८.

जिस प्रकार पतिंगे अपने नाश के लिए, बढ़ते हुए वेग से, धधकती ज्वाला में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार ये सब लोग बढ़ते हुए वेग से अपने नाश के लिए आपके मुखों में प्रवेश करते हैं |

२९.

समस्त लोगों को चारों ओर से निगल कर आप अपने धधकते हुए मुखों से उन्हें चाट रहे हैं | हे सर्वव्यापी विष्णु! आपका प्रचंड प्रकाश संपूर्ण जगत को अपने तेज़ से भरकर तपा रहा है | ३०.

आप मुझसे कहिए कि उग्र रूप वाले आप कौन है? हे देववर! मैं आपको नमस्कार करता हूँ | आप प्रसन्न हो जाइये | आदि-कारण-रूप आपको मैं जानना चाहता हूँ | आपकी प्रवृत्ति को मैं समझ नहीं पाता | ३१.

श्री भगवान बोले:

मैं लोकों का नाश करने वाला, वृद्धि को प्राप्त हुआ काल हूँ | मैं मनुष्य-जाति का नाश करने के लिए ही यहाँ उपस्थित हुआ हूँ | तू लड़ने से इनकार करेगा तो भी विरोधी सेनाओं में ये जो योद्धागण खड़े हैं उनमें से एक भी जीवित रहने वाला नहीं है | ३२.

इसलिए तू उठ, कीर्ति को प्राप्त कर और शत्रुओं को जीतकर धन-धान्य से समृद्ध राज्य का उपभोग कर | इन सबको मैंने पहले से ही मार डाला है | हे सव्यसाची! तू केवल निमित्त-मात्र बन जा | ३३.

मेरे हाथों मरे हुए द्रौण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा दूसरे योद्धाओं को तू (केवल नाम के लिए ही) मार! तू घबराये मत; युद्ध में लड़ | रण में तू शत्रुओं को निश्चित रूप से जीतने वाला है | ३४.

३५

संजय बोले:

केशव के ये वचन सुनकर मुकुटधारी अर्जुन ने काँपते हुए, हाथ जोड़कर, बार बार नमस्कार करते हुए, पुनः डरते डरते, प्रणाम करके गद्‌गद कंठ से कृष्ण से इस प्रकार कहा | ३५.

अर्जुन बोले:

हे हृषीकेश! आपका कीर्तन करके जगत को हर्ष होता है तथा आपके विषय में उसे अनुराग पैदा होता है, यह ठीक ही है | डरे हुए राक्षस इधर-उधर भागते हैं और सिद्धों का सारा समूह आपको नमस्कार करता है | (यह भी ठीक ही है |) ३६.

हे महात्मन! आपको वे नमस्कार क्यों न करें? आप ब्रह्मा से भी बड़े आदिकर्ता हैं | हे अनंत! हे देवेश! हे जगन्निवास! आप अक्षर-अविनाशी हैं, सत् हैं, असत् हैं और इनसे जो कुछ परे हैं वह भी आप ही हैं | ३७.

आप आदिदेव हैं | आप पुराण-पुरुष हैं | आप इस विश्व के परम आश्रय-स्थान हैं | आप वेत्ता-जानने वाले भी हैं, और वेद्य-जानने योग्य भी हैं | आप परम धाम हैं | हे अनंतरूप! इस जगत में आप सर्वत्र व्याप्त हैं | ३८.

आप ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, चंद्र, प्रजापति और प्रपितामह हैं | आपको मेरे हजारों बार नमस्कार हैं | फिर एक बार और भी आपको मेरे नमस्कार हैं | ३९.

हे सर्व! आपको मेरा आगे से, पीछे से, सब ओर से नमस्कार है | आपका वीर्य, आपकी शक्ति अनंत है | आपका पराक्रम अपार है | आप ही सबको व्याप्त किए हुए हैं | इसलिए आप सर्व हैं |

४०.

आपकी यह महिमा न जानने के कारण मित्र मानकर ‘हे कृष्ण! हे यादव! हे सखा!’ इस प्रकार आपको पुकारने में मुझसे भूल में या प्रेम में भी जो अविवेक हुआ हो और विनोदार्थ भी खेलते,

सोते, बैठते या खाते हुए अकेले में अथवा बहुत लोगों के बीच मुझसे आपका जो भी अपमान हुआ हो, उसे क्षमा करने की, हे अगम्य-रूप! आपसे मैं प्रार्थना करता हूँ| ४१-४२.

आप स्थावर और जंगम जगत के पिता है | आप उसके पूज्य और श्रेष्ठ गुरु हैं | हे अनुपम प्रभाव वाले! आपके समान भी जब कोई नहीं है, तब आपसे अधिक तो कोई हो ही कैसे सकता है?

४३.

इसलिए साष्टांग प्रणाम करके आप पूज्य ईश्वर से मैं प्रसन्न होने की प्रार्थना करता हूँ| जैसे पिता अपने पुत्र को, मित्र अपने मित्र को सहन करता है, उसी प्रकार आप मेरे प्रिय होने के कारण मेरे कल्याण के लिए कृपया मुझे सहन करें | ४४.

पहले न देखा हुआ आपका यह रूप देखकर मेरे रोंगटे खड़े हो गए हैं और भय के कारण मेरा मन व्याकुल हो गया हैं | इसलिए हे देव! आप अपना इससे पहले का रूप मुझे दिखाइए | हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइये | ४५.

पहले की तरह मैं आपके मुकुट-गदा-चक्रधारी रूप के दर्शन करना चाहता हूँ | हे सहस्त्रबाहो! हे विश्वमूर्ति! आप अपना वही पहला चतुर्भुज रूप धारण कीजिए| ४६.

३६

श्री भगवान बोले:

हे अर्जुन! तुझ पर प्रसन्न होकर मैंने अपनी योगशक्ति के द्वारा तुझे मेरा तेजोमय, विश्वव्यापी, अनंत, परम, आदि रूप दिखाया है; तेरे सिवा दूसरे किसीने भी पहले मेरा यह रूप नहीं देखा है |

४७.

हे कुरुप्रवीर! वेदाभ्यास से, यज्ञ से, दूसरे शास्त्रों के अभ्यास से, दान से, क्रियाओं से अथवा कठोर तपों से भी तेरे सिवा दूसरा कोई मेरा यह रूप देख नहीं सकता | ४८.

मेरा यह विकराल और भयंकर रूप देखकर तू घबरा मत, परेशान मत हो | भय छोड़कर तू शान्त चित्त हो जा और मेरा यह परिचित रूप फिर से देख | ४९.

संजय बोले:

ऐसा कहकर वासुदेव ने अपना परिचित रूप अर्जुन को फिर दिखाया | और फिर से शान्त मूर्ति धारण करके उन महात्माने डरे हुए अर्जुन को ढाढ़स बँधाया | ५०.

अर्जुन बोले:

हे जनार्दन! आपका यह सौम्य मानव-रूप देखकर अब मैं शान्त तथा प्रसन्न-चित्त हो गया हूँ और स्वाभाविक स्थिति में आ गया हूँ | ५१.

श्री भगवान बोले:

तूने मेरा जो रूप देखा उसका दर्शन बड़ा दुर्लभ है | देवता भी उस रूप को देखने के लिए लालायित रहते हैं | ५२.

तूने मेरा जो दर्शन किया वह दर्शन न तो वेदों से, न तपसे, न दानसे और न यज्ञ से ही हो सकता है | ५३.

परन्तु, हे अर्जुन! हे परंतप! मेरे बारे में ऐसा ज्ञान, मेरा ऐसा दर्शन और मुझ में सच्चा प्रवेश केवल अनन्य भक्ति से ही संभव होता है | ५४.

हे पांडव! जो मनुष्य अपने सारे कर्म मुझे अर्पण करता है, मुझ में परायण-लीन-रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्ति को छोड़ता है और प्राणी मात्र के प्रति द्वेष-रहित होकर रहता है, वह मुझे प्राप्त करता है | ५५.

ॐ तत्सत्

जो ब्रह्मविद्या भी है और योगशास्त्र भी है ऐसे इस
श्री भगवान द्वारा गाये गये उपनिषद् में आये हुए श्रीकृष्ण
और अर्जुन के संवाद का 'विश्वरूप-दर्शन-योग' नामक
ग्यारहवाँ अध्याय यहाँ समाप्त होता है |

१२.

भक्तियोग

पुरुषोत्तम के दर्शन अनन्य भक्ति से ही हो सकते हैं; ऐसी स्थिति होने से भगवान के दर्शनों के बाद तो भक्ति का स्वरूप ही चित्रित किया जा सकता है |

यह बारहवाँ अध्याय सब को कंठाग्र कर लेना चाहिए | यह गीता के छोटे से छोटे अध्यायों में से एक है | इसमें भक्त के जो लक्षण बताये गए हैं, उनका सब को नित्य मनन करना चाहिए |

३७

अर्जुन बोले:

इस प्रकार जो भक्त निरंतर आपका ध्यान धरते हुए आपकी उपासना करते हैं तथा जो आपके अविनाशी अव्यक्त स्वरूप का ध्यान धरते हैं, उनमें से कौन-से योगी श्रेष्ठ माने जाएँगे? १.

श्री भगवान बोले:

जो मनुष्य नित्य मेरा ध्यान धरते हुए, मन को मुझ में लिन करके परम श्रद्धा से मेरी उपासना करते हैं, उन्हें मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूँ| २.

जो मनुष्य सारी इन्द्रियों को वश में रखकर, सर्वत्र समभाव धारण करके मेरे अचिन्त्य, दृढ़, अचल, धीर, सर्व-व्यापक, अव्यक्त, अवर्णनीय तथा अविनाशी स्वरूप की उपासना करते हैं, वे सब प्राणियों के हित में ओतप्रोत होकर मुझे ही प्राप्त करते हैं | ३-४.

जिन मनुष्यों का चित्त अव्यक्त में चिपका हुआ है, उन्हें अधिक कष्ट होता है | अव्यक्त गति को देहधारी मनुष्य अनेक कष्ट उठाकर ही प्राप्त कर सकता है | ५.

टिप्पणी: देहधारी मनुष्य अमूर्त स्वरूप की केवल कल्पना ही कर सकता है | परन्तु उसके पास अमूर्त स्वरूप के लिए एक भी निश्चित शब्द नहीं है, इसलिए उसे निषेधात्मक शब्द 'नेति' से

संतोष करना पड़ता है | अतएव मूर्तिपूजा का निषेध करने वाले लोग भी सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो मूर्ति-पूजक ही होते हैं | पुस्तक की पूजा करना, गिरजाघर में जा कर पूजा करना, एक ही दिशा में मुहँ रखकर पूजा करना-ये सब साकार पूजा के ही लक्षण हैं | ऐसा होते हुए भी साकार के उस पार निराकार अचिन्त्य स्वरूप है, यह तो सब को समझना ही होगा | भक्ति की पराकाष्ठा इसी में है कि भक्त भगवान में विलीन हो जाए और अन्त में केवल एक अद्वितीय, निराकार भगवान ही रह जाए | लेकिन यह स्थिति साकार की सहायता से आसानी से प्राप्त की जा सकती है | इसीलिए निराकार तक सीधे पहुँचने का मार्ग कष्टसाध्य कहा गया है |

परन्तु, हे पार्थ! जो मुझ में परायण रहकर, सारे कर्म मुझे अर्पण करके, एकनिष्ठा से मेरा ध्यान धरते हुए मेरी उपासना करते हैं और जिन का चित्त मुझ में पिरोया हुआ रहता है, ऐसे मनुष्यों का मैं मरणधर्मी संसार-सागर से तुरन्त उद्धार कर देता हूँ | ६-७.

अपना मन तू मुझ में लगाए रख, तेरी बुद्धि को मुझ में पिरो दे | ऐसा करने से इस जन्म के बाद तू निश्चित रूप से मुझे ही प्राप्त करेगा | ८.

अब यदि तू मुझ में अपना मन स्थिर करने में असमर्थ हो, तो हे धनंजय! तू अभ्यास-योग के द्वारा मुझे प्राप्त करने की इच्छा रख | ९.

ऐसा अभ्यास रखने में भी यदि तू असमर्थ हो, तो अपने समस्त कर्म तू मुझे अर्पण कर दे | इस तरह मेरे निमित्त से कर्म करते करते भी तू मोक्ष को प्राप्त करेगा | १०.

और यदि मेरे निमित्त से कर्म करने जितनी शक्ति भी तुझ में न हो, तो तू प्रयत्नपूर्वक समस्त कर्मों के फल का त्याग कर | ११.

अभ्यास-मार्ग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग अधिक अच्छा है | ज्ञानमार्ग की अपेक्षा ध्यानमार्ग अधिक अच्छा है | और ध्यानमार्ग की अपेक्षा कर्मफल का त्याग अधिक अच्छा है, क्योंकि इस त्याग के अन्त में तुरन्त शांति ही प्राप्त होती है | १२.

टिप्पणी: अभ्यास का अर्थ है चित्त की वृत्तियों के निरोध की साधना; ज्ञान का अर्थ है श्रवण-मनन आदि; ध्यान का अर्थ है उपासना | इनके फलस्वरूप यदि कर्मफल का त्याग देखने में न आए, तो ऐसा अभ्यास अभ्यास नहीं है, ज्ञान ज्ञान नहीं है और ध्यान ध्यान नहीं है |

[**टिप्पणी:** चित्त अशान्त हो तो ध्यान नहीं हो सकता और अशान्ति का कारण तो अनेक प्रकार की फल-वासना ही है; इसलिए फल का त्याग पहले करना चाहिए | इस त्याग के बाद ध्यान के लिए आवश्यक शांति तुरन्त प्राप्त हो सकती है | -का.]

जो प्राणी मात्र के प्रति द्वेष-रहित है, सब का मित्र है, दयावान और क्षमावान है, अहंता तथा ममता से रहित है, सुख-दुःख को समान मानता है, सदा संतुष्ट रहता है, योगमुक्त है, इन्द्रियों का निग्रह करने वाला है और दृढ़ निश्चय वाला है तथा जिसने अपनी बुद्धि और मन को मुझे अर्पण कर दिया है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है | १३-१४.

जिससे लोग उद्विग्न नहीं होते और जो लोगों से उद्विग्न नहीं होता, जो हर्ष, क्रोध, ईर्ष्या, भय और उद्वेग से मुक्त है, वह भक्त मुझे प्रिय है | १५.

जो इच्छा-रहित है, पवित्र है, दक्ष अर्थात् सावधान है, फल की प्राप्ति के विषय में तटस्थ है, भय या चिंता से रहित है, जिसने समस्त संकल्पों का त्याग किया है, वह मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है| १६.

जो हर्षित नहीं होता, जो द्वेष नहीं करता, जो चिंता नहीं करता, जो आशाएँ नहीं बाँधता, जो शुभ और अशुभ का त्याग करता है, वह भक्ति-परायण मनुष्य मुझे प्रिय है | १७.

शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सरदी-गरमी, सुख-दुःख,-इन सब के विषय में जो समता धारण करता है, जिसने आसक्ति छोड़ दी है, जो निंदा और स्तुति में एकसा रहता है और मौन धारण करता है, जो कुछ मिल जाय उसीमें जिसे संतोष है, जिसके पास अपना कोई आश्रय-स्थान नहीं है और जो स्थिर चित्त वाला है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है | १८-१९.

जो लोग मुझ में परायण रहकर श्रद्धा के साथ इस पवित्र अमृत-रूपी ज्ञान का सेवन करते हैं, वे मेरे अत्यन्त प्रिय भक्त हैं | २०.

ॐ तत्सत्

जो ब्रह्मविद्या भी है और योगशास्त्र भी है ऐसे इस

श्री भगवान द्वारा गाये गये उपनिषद में आये हुए श्रीकृष्ण

और अर्जुन के संवाद का 'भक्तियोग' नामक बारहवाँ

अध्याय यहाँ समाप्त होता है |

१३.

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग-योग

इस अध्याय में शरीर और शरीरी (आत्मा) का भेद बताया गया है |

३९

श्री भगवान बोले:

हे कौन्तेय! यह शरीर क्षेत्र कहा जाता है और इसे जो जानता है उसे तत्त्वज्ञानी लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं | १.

और हे भारत! सारे क्षेत्रों-शरीरों-में रहने वाले मुझे तू क्षेत्रज्ञ जान | मेरा ऐसा मत है कि क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के भेद का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है | २.

यह क्षेत्र क्या है, कैसा है, कैसे विकारों वाला है, कहाँ से आया है तथा क्षेत्रज्ञ कौन है और उसकी शक्ति क्या है, यह सब तू मुझसे संक्षेप में सुन | ३.

विविध प्रकार के छंदों में, अलग अलग रीतियों से ऋषियों ने इस विषय को खूब गाया है और उदाहरणों तथा तर्कों द्वारा निश्चयपूर्ण ब्रह्मसूचक वाक्यों में भी इस विषय का निरूपण किया है | ४.

महाभूत, अहंता, बुद्धि, प्रकृति, दस इन्द्रियाँ, एक मन, पाँच विषय; तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख संघात, चेतन-शक्ति, धृति-इन सब को उनके विकारों के साथ संक्षेप में क्षेत्र कहा गया है | ५-६.

टिप्पणी: महाभूत पाँच हैं: पृथ्वी, जल, तेज़, वायु और आकाश | अहंकार का अर्थ है शरीर के विषय में रहने वाली अहंता, अहं-प्रत्यय, अहंभाव | अव्यक्त का अर्थ है अदृश्य रहने वाली माया, प्रकृति | दस इन्द्रियों में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है: नाक, कान, आँख, जीभ और त्वचा; तथा

पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं: हाथ, पाँव, मुहँ और दो गुह्य इन्द्रियाँ | पाँच गोचर अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय-सूँघना, सुनना, देखना, चखना और छूना | संघात का अर्थ है शरीर के तत्त्वों की एक-दूसरे के साथ सहयोग करने की शक्ति | धृतिका अर्थ यहाँ धैर्यरूपी निडरता का नैतिक गुण नहीं, परन्तु इस शरीर के परमाणुओं का एक-दूसरे के साथ संबंध रहने का गुण | यह गुण अहंभाव के कारण ही संभव होता है और यह अहंता अव्यक्त प्रकृति में रहती है | अमूर्च्छ-जाग्रत-मनुष्य इस अहंता का ज्ञानपूर्वक त्याग करता है | इसलिए मृत्यु के समय या दूसरे आघातों के समय वह दुःखी नहीं होता | ज्ञानी-अज्ञानी सब को अन्त में तो इस विकारी क्षेत्र का त्याग करना ही पड़ता है; इसके सिवा और कोई चारा नहीं है |

अमानित्य, अदंभित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य की सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्म-संयम, इन्द्रियों के विषयों के बारे में वैराग्य, अहंकार का अभाव, जन्म-मरण-जरा-व्याधि संबंधी दुःखो तथा दोषों का निरंतर भान, पुत्र-स्त्री-घर आदि में मोह-ममता का अभाव, प्रिय अथवा अप्रिय जो भी आ पड़े उसके विषय में नित्य समभाव, मेरे विषय में अनन्य ध्यान के साथ एकनिष्ठ भक्ति, एकान्त स्थान का सेवन, जन-समूह में धूलने-मिलने की अरुचि, आध्यात्मिक ज्ञान के बार में स्थिर निष्ठा तथा आत्मदर्शन-यह सब ज्ञान कहा जाता है | इससे उलटा अज्ञान है |

७-८-९-१०-११.

जिसे जानकर मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करता है, वह ज्ञेय क्या है-यह मैं अब तुझ से कहूँगा | वह अनादि परब्रह्म है; उसे न तो सत् कहा जा सकता, न असत् कहा जा सकता | १२.

टिप्पणी: परमेश्वर को सत् अथवा असत् में से एक भी नहीं कहा जा सकता | वह ऐसा गुणातीत स्वरूप है, जिसकी किसी एक शब्द द्वारा व्याख्या या परिचय नहीं हो सकता |

उसके हाथ, पैर, आँख, सिर, मुहँ और कान सर्वत्र विद्यमान हैं | इस लोक में वह सब को व्याप्त करके स्थित है | १३.

सारी इन्द्रियों के गुणों का आभास उसमें होता है, फिर भी वह स्वरूप इन्द्रियों से रहित है तथा सबसे अलिप्त है और ऐसा होते हुए भी सब को धारण करने वाला है | वह गुण-रहित है, फिर भी गुणों का भोक्ता है | १४.

वह भूतों के बाहर भी है और भीतर भी है | वह गतिमान भी है और स्थिर भी है | वह सूक्ष्म होने के कारण जाना नहीं जा सकता | वह दूर भी है और समीप भी है | १५.

टिप्पणी: जो मनुष्य उसे पहचानता है, वह उसके भीतर है | गति और स्थिरता, शांति और अशांति दोनों का हम अनुभव करते हैं; और ये सब भाव उसीमें से उत्पन्न होते हैं, इसलिए वह गतिमान और स्थिर दोनों है |

वह अविभक्त होते हुए भी भूतों में विभक्त के जैसा रहता है | वह जानने योग्य (ब्रह्म) प्राणियों का पालन करने वाला, नाश करने वाला और पुनः उन्हें उत्पन्न करने वाला है | १६.

वह ज्योतियों की भी ज्योति है; अँधकार से वह पर कहा जाता है | ज्ञान वही है, जानने योग्य वही है और ज्ञान से जो प्राप्त किया जाता है वह भी वही है | वह सब के हृदयों में बसा हुआ है | १७.

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय के विषय में मैंने संक्षेप में तुझे बताया | मेरा भक्त यह जानकर मेरे स्वरूप तक पहुँचने योग्य बनता है | १८.

४०

प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं; और तू यह भी जान कि समस्त विकार और गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं | १९.

कार्य-कारण-संबंध की उत्पत्ति प्रकृति के कारण मानी जाती है; जब कि सुख-दुःख का अनुभव पुरुष के कारण माना जाता है | २०.

प्रकृति में स्थित पुरुष प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुणों का भोगता है और गुणों का यह संग ही अच्छी-बुरी योनि में उसके जन्म का कारण बनता है | २१.

टिप्पणी: प्रकृति को हम लौकिक भाषा में माया के नाम से पहचानते हैं | पुरुष जीव है | माया के वश अर्थात् मूल स्वभाव के वश होकर जीव सत्त्व, रजस् और तमस् से होने वाले कार्यों के फल भोगता है और इसलिए कर्मों के अनुसार पुनर्जन्म प्राप्त करता है |

इस देह में स्थित वह परम-पुरुष सबका साक्षी, अनुमंता (अनुमति देने वाला), भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा भी कहा जाता है | २२.

जो मनुष्य इस प्रकार पुरुष को और गुणमयी प्रकृति को जानता है, वह सब प्रकार से कार्य करते हुए भी फिर से जन्म नहीं पाता | २३.

टिप्पणी: दूसरे, नवें, बारहवें और अन्य अध्यायों की मदद से हम जान सकते हैं कि यह श्लोक स्वेच्छाचार का समर्थन नहीं करता, परन्तु भक्ति की महिमा बताता है | कर्ममात्र जीव के लिए बन्धन-कारक होते है; परन्तु यदि मनुष्य अपने समस्त कर्म परमात्मा को अर्पण कर दे, तो वह बन्धन-मुक्त हो जाता है | इस प्रकार जिस मनुष्य के भीतर से कर्तापन का अहंभाव मिट गया है और जो चौवीसों घंटे अंतर्यामी प्रभु को साक्षी रखकर कर्म करता है, वह कोई पापकर्म कर ही नहीं सकता | अभिमान ही पाप का मूल है | जहाँ 'मैं' मिट गया वहाँ पाप की संभावना रहती ही नहीं |

यह श्लोक पापकर्म न करने की युक्ति बताता है |

कुछ मनुष्य ध्यानमार्ग से आत्मा के द्वारा आत्मा को अपने में देखते हैं; कुछ ज्ञानमार्ग से; जब कि दूसरे कुछ मनुष्य कर्ममार्ग से ऐसा करते हैं | २४.

दूसरे कुछ लोग इन मार्गों को नहीं जानते, इसलिए अन्य लोगों से परमात्मा के विषय में सुनकर, सुनी हुई बातों पर श्रद्धा रखकर और उनमें लीन रहकर परमात्मा की उपासना करते हैं और वे भी मृत्युयुक्त संसार को पार कर जाते हैं | २५.

४१

जो भी चर अथवा अचर वस्तु उत्पन्न होती है, वह हे भरतर्षभ! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अर्थात् प्रकृति और पुरुष के संयोग से उत्पन्न होती है, ऐसा तू जान! २६.

जो मनुष्य अविनाशी परमेश्वर को सारे नाशवान प्राणियों में समभाव से बसा हुआ जानता है, वही उसे पहचानता है | २७.

जो मनुष्य ईश्वर को सर्वत्र समभाव से स्थित देखता है, वह स्वयं अपना घात-नाश-नहीं करता और इस कारण परम गति को प्राप्त करता है | २८.

टिप्पणी: ईश्वर को समभाव से सर्वत्र स्थित देखने वाला मनुष्य स्वयं उस में विलीन हो जाता है और दूसरा कुछ नहीं देखता | इस कारण से वह विकार-वश नहीं होता; इसके फलस्वरूप वह मोक्ष प्राप्त करता है तथा अपना शत्रु नहीं बनता |

सर्वत्र प्रकृति ही कर्म करती है, ऐसा जो समझता है और इसलिए आत्मा को अकर्ता जानता है, वही सच्चा जानकार है | २९.

टिप्पणी: उसी प्रकार जैसे सोते हुए मनुष्य की आत्मा निद्रा का कर्ता नहीं है, परन्तु प्रकृति निद्रा का कर्म करती है |

निर्विकार पुरुष की आँख कोई मैली चीज़ नहीं देखती | प्रकृति स्वयं व्यभिचारिणी नहीं है | अभिमानी पुरुष जब उसका स्वामी बनता है तब उस मिलाप से विषय-विकार उत्पन्न होता है |

जब वह (जानकार) जीवों के अस्तित्व को अलग होते हुए भी एक में ही स्थित देखता है और संपूर्ण विस्तार उस (एक) में से ही हुआ है ऐसा समझता है, तब वह ब्रह्म को प्राप्त करता है |३०.

टिप्पणी: अनुभव से सब को ब्रह्म में देखना ही ब्रह्म को प्राप्त करना है | ऐसी स्थिति में जीव शिव से भिन्न नहीं रहता |

हे कौन्तेय! यह अविनाशी परमात्मा अनादि और निर्गुण होने के कारण शरीर में रहते हुए भी न तो कुछ करता है और न किसीसे लिप्त होता है | ३१.

जिस प्रकार सर्वत्र फैला हुआ आकाश सूक्ष्म होने के कारण किसीसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सारे शरीर में रहने वाली आत्मा भी लिप्त नहीं होती | ३२.

जिस प्रकार एक ही सूर्य इस संपूर्ण जगत को प्रकाश देता है, उसी प्रकार हे भारत! क्षेत्री सारे क्षेत्र को प्रकाशित करता है | ३३.

इस प्रकार जो मनुष्य ज्ञानचक्षु के द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के बीच का भेद जानते हैं तथा प्रकृति के बँधन से प्राणियों की मुक्ति कैसे होती है यह जानते हैं, वे ब्रह्म को प्राप्त करते हैं | ३४.

ॐ तत्सत्

जो ब्रह्मविद्या भी है और योगशास्त्र भी है ऐसे इस

श्री भगवान द्वारा गाये गये उपनिषद् में आए हुए श्रीकृष्ण

और अर्जुन के संवाद का 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग-योग' नामक

तेरहवाँ अध्याय यहाँ समाप्त होता है |

१४.

गुणत्रय-विभाग-योग

गुणमयी प्रकृति का थोड़ा परिचय कराने के बाद स्वाभाविक रूप में ही उसके तीन गुणों का वर्णन इस अध्याय में आता है | और तीन गुणों का वर्णन करते हुए भगवान गुणातीत मनुष्य के लक्षण भी इसमें गिनाते हैं |

दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ के जो लक्षण बताये गये हैं और बारहवें अध्याय में भक्त के जो लक्षण बताये गये हैं, वैसे ही लक्षण इस अध्याय में गुणातीत मनुष्य के बताये गये हैं|

४२

श्री भगवान बोले:

सब ज्ञानों में जो उत्तम ज्ञान है और जिसका अनुभव करके सारे मुनिगण इस देह का बन्धन छुटने के बाद परम गति को प्राप्त हुए, वह ज्ञान मैं फिर से तुझे कहूँगा | १.

इस ज्ञान का आश्रय लेकर जो मनुष्य मेरे साथ एकरूप हो गये हैं, उन्हें उत्पत्ति के समय जन्म नहीं लेना पड़ता और प्रलय के समय व्यथा नहीं भोगनी पड़ती | २.

हे भारत! महद्-ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है | उसमें मैं गर्भ की स्थापना करता हूँ और उस गर्भ में से सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं | 3.

हे कौन्तेय! समस्त योनियों में जिन-जिन जीवों की उत्पत्ति होती है, उन सब की उत्पत्ति का स्थान महद्-ब्रह्म अर्थात् मेरी प्रकृति है और उस में बीजारोपण करने वाला पिता-पुरुष-मैं हूँ | ४.

हे महाबाहो! प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सत्त्व, रजस् और तमस् गुण अविनाशी देहधारी जीव को देह में बाँध देते हैं | ५.

इन गुणों में सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाशित करने वाला तथा स्वास्थ्यप्रद है, और हे अनध! वह देही की सुख में और ज्ञान में आसक्ति पैदा करके उसे बांधता है | ६.

हे कौन्तेय! रजोगुण अनुराग-रूप होने के कारण तृष्णा और आसक्ति की जड़ है; वह देहधारी को कर्मपाश में बांधता है | ७.

हे भारत! तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होने वाला है, इसलिए वह समस्त देहधारियों को मोह में डालता है और देही को असावधानता (गफलत), आलस्य तथा निद्रा के पाश में बांधता है |८.

हे भारत! सत्त्वगुण आत्मा का शांतिमुख के साथ संयोग कराता है, रजोगुण कर्म के साथ आत्मा का संयोग कराता है और तमोगुण ज्ञान के ढंक कर प्रमाद के साथ आत्मा का संयोग कराता है | ९.

हे भारत! जब रजस् और तमस् दब जाते हैं तब सत्त्वगुण ऊपर आता है | सत्त्व और तमस् दबते हैं तब रजस् [ऊपर आता है] और जब सत्त्व और रजस् दबते हैं तब तमस् ऊपर आता है | १०.

जब समस्त इन्द्रियों द्वारा इस देह में प्रकाश और ज्ञान का उद्‌भव होता है तब यह समझना चाहिए कि सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है | ११.

हे भरतर्षभ! जब रजोगुण की वृद्धि होती है तब लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों के आरंभ, अशांति (अतृप्ति) तथा इच्छा का उदय होता है | १२.

हे कुरुनन्दन! जब तमोगुण की वृद्धि होती है तब अज्ञान, मन्दता, असावधानी तथा मूढ़ता उत्पन्न होती है | १३.

जब देहधारी अपने भीतर सत्त्वगुण की वृद्धि होने पर मृत्यु को प्राप्त होता है, तो वह उत्तम ज्ञानियों के निर्मल लोकों को प्राप्त करता है | १४.

रजोगुण की वृद्धि होने पर मृत्यु हो तो देहधारी कर्मसंगियों के-कर्म में आसक्त रहने वाले मनुष्यों के-लोक में जन्म लेता हैं; और तमोगुण की वृद्धि होने पर मृत्यु पाने वाला देहधारी मूढ़योनि में जन्म लेता है | १५.

टिप्पणी: कर्मसंगियों का लोक अर्थात् मनुष्य-लोक; और मूढ़योनि अर्थात् पशु इत्यादि लोक |

सत्कर्म का फल सात्त्विक और निर्मल होता है, राजसी कर्म का फल दुःख होता है और तामसी कर्म का फल अज्ञान होता है |

टिप्पणी: हम साधारण व्यवहार में जिसे सुख और दुःख मानते हैं, उस सुख-दुःख का उल्लेख यहाँ नहीं समझना चाहिए | यहाँ सुख का अर्थ है आत्मानन्द, आत्म-प्रकाश | इससे जो उलटा हो वह दुःख है | १७ वें श्लोक में बात स्पष्ट हो जाती है |

सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है, और तमोगुण से असावधानी, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं | १७.

सात्त्विक मनुष्य ऊँचे चढ़ते हैं, राजसी मध्य में रहते हैं और अंतिम गुण वाले तामसी लोग अधोगति को प्राप्त करते हैं | १८.

तत्त्वदर्शी ज्ञानी जब देखता है कि गुणों के सिवा दूसरा कोई कर्ता है ही नहीं और जब वह गुणों से जो परे है उस ईश्वर को जानता है तब वह मेरे स्वरूप को प्राप्त करता है | १९.

टिप्पणी: गुणों को ही कर्ता के रूप में देखने-समझने वाले के मन में अहंभाव कभी पैदा नहीं होता | इसलिए उसके सारे कार्य स्वाभाविक होते है और शरीर-यात्रा चलाने के लिए ही होते हैं | और उसकी शरीर-यात्रा परमार्थ करने के लिए ही होती है, इस कारण से उसके प्रत्येक कार्य में सदा त्याग और वैराग्य की ही भावना रहती है | ऐसा ज्ञानी आसानी से गुणों से परे रहने वाले निर्गुण ईश्वर की कल्पना करता है, उसे पहचानता है और भजता है |

देह के संग से उत्पन्न होने वाले इन तीन गुणों को पार करके देहधारी (मनुष्य) जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे के दुःख से छूटता है और मोक्ष को प्राप्त करता है | २०.

४३

अर्जुन बोले:

हे प्रभो, इन तीन गुणों को पार करने वाला मनुष्य किन चिह्नों से पहचाना जाता है? उसके आचरण कैसे होते हैं? और इन तीन गुणों को वह कैसा पार करता है? २१.

श्री भगवान बोले:

हे पांडव! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह के प्राप्त होने पर जो दुःख नहीं मानता और उनके प्राप्त न होने पर जो उनकी इच्छा नहीं करता, जो उदासीन की तरह स्थिर रहता है, जिसे गुण हिलाते या विचलित नहीं करते, 'गुण ही अपना कार्य करते हैं' ऐसा मानकर जो स्थिर रहता है-विचलित नहीं होता, जो सुख-दुःख में समतावान रहता है, स्वस्थ रहता है, मिट्टी के ढेले, पत्थर और सुवर्ण को जो समान मानता है, प्रिय अथवा अप्रिय वस्तु प्राप्त होने पर जो एक सा रहता है, अपनी निंदा या स्तुति को जो समान मानता है, जिसकी दृष्टि में मान और अपमान दोनों समान हैं, जो मित्रपक्ष और शत्रुपक्ष के बारे में समभाव रखता है और जिसने सब आरंभो का त्याग कर दिया है, ऐसा बुद्धिमान पुरुष गुणातीत कहलाता है | २२-२३-२४-२५.

टिप्पणी: यहाँ २२ से २५ तक के श्लोकों का एक साथ विचार करना चाहिए | प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह पिछले श्लोकों में बताए अनुसार क्रम से सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के परिणाम अथवा चिह्न हैं | इसलिए यहाँ कहने का आशय यह है कि जो मनुष्य गुणों को पार कर गया है, उस पर इन परिणामों का कोई असर नहीं होता | पत्थर प्रकाश की इच्छा नहीं करता, न वह प्रवृत्ति या जड़ता से द्वेष करता है | उसे न चाहने पर भी शांति है; कोई उसे गति देता है तो वह गति देने वाले से द्वेष नहीं करता | गति देने के बाद कोई उसे स्थिर कर देता है तब ऐसा करने से

उसकी प्रवृत्ति (गति) बन्द हो गई, मोह या जड़ता आ गई, ऐसा मानकर वह दुःखी नहीं होता; परन्तु तीनों स्थितियों में समान रहता है |

पत्थर और गुणातीत मनुष्य में यह भेद हैं कि गुणातीत चेतनमय है और उसने ज्ञानपूर्वक गुणों के परिणामों का, उनके स्पर्श का त्याग किया है और एक प्रकार से वह जड़ पत्थर जैसा बन गया है | पत्थर गुणों के अर्थात् प्रकृति के कार्यों का साक्षी तो है, परन्तु उनका कर्ता नहीं है; इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष इन कार्यों का साक्षी रहता है, परन्तु कर्ता नहीं रहता | ऐसे ज्ञानी के विषय में यह कल्पना की जा सकती है कि वह २३वें श्लोक में बताये अनुसार 'गुण अपना कार्य करते रहते हैं' ऐसा समझने के कारण हिलता नहीं और अचल रहता है; वह उदासीनता की तरह बैठता है यानी अडिग रहता है |

गुणों में तन्मय बने हुए हम लोग इस स्थिति की केवल कल्पना करके धैर्य के साथ उसे समझ सकते हैं, परन्तु उसका अनुभव नहीं कर सकते | लेकिन इस स्थिति की कल्पना को दृष्टि के सामने रखकर 'मैं' पन को हम दिनोंदिन घटाते जाएँ, तो अन्त में हम गुणातीत मनुष्य की स्थिति के समीप पहुँच सकते हैं और उसकी झाँकी कर सकते हैं | गुणातीत मनुष्य अपनी स्थिति का अनुभव करता है, उसका वर्णन नहीं कर सकता | जो मनुष्य उसका वर्णन कर सकता है वह गुणातीत नहीं है, क्योंकि उसमें अहंभाव विद्यमान है | सब लोग जिसका आसानी से अनुभव कर सकते हैं, वह शांति, प्रकाश, घाँघली-प्रवृत्ति या जड़ता-मोह है | गीता में अनेक स्थानों पर यह स्पष्ट किया गया है कि सात्त्विकता गुणातीत के समीप से समीप की स्थिति है |

इसलिए प्रत्येक मनुष्य का प्रयत्न सत्त्वगुण का विकास करने की दिशा में होना चाहिए | इसके फल स्वरूप अन्त में उसे गुणातीत अवस्था प्राप्त होगी ही, ऐसा विश्वास उसे रखना चाहिए |

जो मनुष्य एकनिष्ठ होकर भक्तियोग के द्वारा मेरी सेवा-उपासना करता है, वह इन तीनों गुणों को पार करके ब्रह्मरूप बनने योग्य हो जाता है | २६.

यह ब्रह्म की स्थिति मैं ही हूँ, शाश्वत मोक्ष की स्थिति मैं ही हूँ; इसी प्रकार सनातन धर्म की तथा उत्तम सुख की स्थिति भी मैं ही हूँ| २७.

ॐ तत्सत्

जो ब्रह्मविद्या भी है और योगशास्त्र भी है ऐसे इस

श्री भगवान द्वारा गाये गये उपनिषद में आये हुए श्रीकृष्ण

और अर्जुन के संवाद का 'गुणत्रय-विभाग-योग' नामक

चौदहवाँ अध्याय यहाँ समाप्त होता है |

१५.

पुरुषोत्तम-योग

इस अध्याय में क्षर और अक्षर से परे रहने वाला अपना उत्तम स्वरूप भगवान ने समझाया है |

४४

श्री भगवान बोले:

जिसका मूल ऊपर है, जिसकी शाखाएँ नीचे हैं और वेद जिसके पर्ण हैं, ऐसा जो अविनाशी अश्वत्थ संसार-वृक्ष कहा जाता है, उसे जो मनुष्य जानता है वह वेदों का जानने वाला ज्ञानी है |

१.

टिप्पणी: 'श्व:' का अर्थ है आगामी कल | इसलिए अ-श्व-त्थ का अर्थ हुआ आगामी कल तक न टिकने वाला क्षणिक संसार | संसार का प्रतिक्षण रूपांतर होता रहता है, अतः वह अश्वत्थ है | परन्तु ऐसी स्थिति में वह सदा ही रहने वाला है इसलिए और उसका मूल ऊर्ध्व अर्थात् ईश्वर है इसलिए वह शाश्वत अविनाशी है | उसमें वेदों के अर्थात् धर्म के शुद्ध ज्ञानरूपी पर्ण न हों, तो वह शोभा नहीं दे सकता | इस प्रकार जिसे संसार का सच्चा ज्ञान है और जो धर्म को जानने वाला है वह ज्ञानी है |

गुणों के स्पर्श से बढ़ी हुई और विषय-रूपी कोपलों वाली इस अश्वत्थ की शाखाएँ नीचे-ऊपर फैली हुई हैं; कर्मों के बन्धन उत्पन्न करने वाली उसकी जड़ें मनुष्य-लोक में नीचे फैली हुई हैं |

२.

टिप्पणी: यह संसार-वृक्ष का अज्ञानी मनुष्य की दृष्टि वाला वर्णन है | वह इस वृक्ष के ऊपर ईश्वर में स्थित मूल को नहीं देखता, लेकिन विषयों की रमणीयता में मुग्ध रहकर तीनों गुणों द्वारा इस वृक्ष का पोषण करता है और मनुष्य-लोक में कर्म के पाश में बँधा रहता है |

इस वृक्ष का सच्चा स्वरूप देखने में नहीं आता | न तो इसका अन्त है, न आदि है और न आधार है; अत्यन्त गहरी पहुँची हुई जड़ों वाले इस अश्वत्थ वृक्ष को असंग-रूपी बलवान शस्त्र से काट कर मनुष्य यह प्रार्थना करे: 'जिसमें से यह सनातन प्रवृत्ति-माया प्रसरित हुई है, उस आदि-पुरुष की शरण में मैं जाता हूँ!' और इस पद को खोजे जिसे प्राप्त करने वाले को फिर से जन्म और मरण के चक्र में फँसना नहीं पड़ता | ३-४.

टिप्पणी: असंग का अर्थ है असहयोग, वैराग्य | जब तक मनुष्य विषयों के साथ असहयोग नहीं करता, उनके प्रलोभनों से दूर नहीं रहता, तब तक वह उनमें फँसता ही रहेगा |

ये दो श्लोक यही बताते हैं कि विषयों के साथ खेल खेलना और उनसे अछूता रहना असंभव है |

जिन्होंने मान और मोह का त्याग किया है, जिन्होंने आसक्ति से पैदा होने वाले दोषों को दूर कर दिया है, जो नित्य आत्मा में निमग्न रहते हैं, जिनके विषय शान्त हो गए हैं, जो सुख-दुःख-रूपी द्वन्द्वों से मुक्त हैं, वे ज्ञानीजन अविनाशी पद को प्राप्त करते हैं | ५.

वहाँ सूर्य को, चंद्र को या अग्नि को प्रकाश नहीं पहुँचाना पड़ता | जहाँ जाने वाले मनुष्य को फिर से जन्म नहीं लेना पड़ता, वही मेरा परम धाम है | ६.

४४ अ

मेरा ही सनातन अंश जीवलोक में जीव बनकर प्रकृति में रहने वाली पाँच इन्द्रियों को और मन को आकर्षित करता हैं | ७.

शरीर का स्वामी अर्थात् जीव जब शरीर छोड़ता है अथवा धारण करता है तब जिस प्रकार वायु पुष्पादी के स्थान से गंध को ले जाती है, उसी प्रकार जीव इन्द्रियों-सहित मन को अपने साथ ले जाता है | ८.

और कान, आँख, चमड़ी, जीभ, नाक तथा मन का आश्रय लेकर वह विषयों का सेवन करता है|
९.

टिप्पणी: यहाँ विषय शब्द का अर्थ बीभत्स विलास नहीं, परन्तु उन-उन इन्द्रियों की स्वाभाविक क्रियाएँ हैं | उदाहरण के लिए, आँख का विषय है देखना, कान का विषय है सुनना, जीभ का विषय है चखना या स्वाद लेना | ये क्रियाएँ जब विकार वाली, अहंभाव वाली होती हैं तब दूषित-बीभत्स-मानी जाती हैं | जब ये क्रियाएँ विकारों से रहित होती हैं तब निर्दोष होती हैं | बालक आँख से देखते हुए या हाथ से किसी पदार्थ को छुते हुए विकारी नहीं बनता | इसलिए नीचे के श्लोक में कहा गया है:

(शरीर का) त्याग करने वाले अथवा उसमें रहने वाले तथा गुणों का आश्रय लेकर भोग भोगने वाले (इस अंशरूपी) ईश्वर को मूर्खजन नहीं देखते; केवल दिव्य चक्षु वाले ज्ञानीजन ही देखते हैं|
१०.

यत्नवान योगीजन अपने भीतर बसे हुए इस ईश्वर को देखते हैं | परन्तु जिन्हों ने अपने-आपको तालीम ही नहीं दी है, आत्मशुद्धि नहीं की है, ऐसे मूढ़जन यत्न करने पर भी इस ईश्वर को नहीं पहचानते |
११.

टिप्पणी: इसमें और नवें अध्याय में भगवान ने दुराचारी मनुष्य को जो वचन दिया है उसमें कोई विरोध नहीं है | अकृतात्मा का अर्थ है भक्तिहीन; स्वेच्छाचारी, दुराचारी |

जो मनुष्य नम्रता से श्रद्धापूर्वक ईश्वर को भजते हैं, वे क्रम क्रम से आत्मशुद्ध होते हैं और ईश्वर को पहचानते हैं | जो मनुष्य यम-नियमादि के पालन की परवाह न करके केवल बुद्धि के प्रयोग से ईश्वर को पहचानना चाहते हैं, वे अचेता-चित्त से रहित, राम से हीन, राम को पहचान ही कैसे सकते हैं?

४५

सूर्य में स्थित जो तेज़ सारे जगत को प्रकाशित करता है और जो तेज़ चंद्रमा और अग्नि में रहता है, वह मेरा ही है ऐसा तू समझ | १२.

पृथ्वी में प्रवेश करके मैं अपनी शक्ति से प्राणियों को धारण करता हूँ और रसों को उत्पन्न करने वाला चंद्र बनकर समस्त वनस्पतियों का पोषण करता हूँ | १३.

जठराग्नि के रूप में प्राणियों के शरीर का आश्रय लेकर मैं प्राण और अपान-वायु के द्वारा चारों प्रकार का अन्न पचाता हूँ | १४.

[**टिप्पणी:** अन्न चार प्रकार का है: (१) चबाकर खाया जाने वाला, (२) पिया जाने वाला, (3) चूसा जाने वाला, और (४) चाटा जाने वाला | - का.]

मैं सबके हृदय में विद्यमान हूँ; मुझसे स्मृति, ज्ञान और उनका अभाव होता है | समस्त वेदों द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ, वेदों को जानने वाला मैं हूँ और वेदान्त को प्रकट करने वाला भी मैं ही हूँ | १५.

४६

इस लोक में क्षर अर्थात् नाशवान और अक्षर अर्थात् अविनाशी ऐसे दो पुरुष हैं | समस्त भूत 'क्षर' हैं और उनमें स्थिर रहने वाला अंतर्यामी 'अक्षर' कहा जाता है | १६.

इनके अतिरिक्त एक दूसरा उत्तम पुरुष है | वह परमात्मा कहा जाता है | वह अव्यय ईश्वर तीनों लोकों में प्रवेश करके उनका पोषण करता है | १७.

क्योंकि मैं क्षर से परे हूँ और अक्षर से भी उत्तम हूँ, इसलिए मैं वेदों में और जगत में पुरुषोत्तम के नाम से प्रसिद्ध हूँ | १८.

हे भारत! जो मनुष्य मोह-रहित होकर मुझ पुरुषोत्तम को इस प्रकार जानता है, वह सब-कुछ जानता है और मुझे पूर्ण भाव से भजता है | १९.

हे अनध! यह गुह्य से गुह्य शास्त्र मैंने तुझसे कहा है | हे भारत! इसे जानकर मनुष्य को बुद्धिमान बनना चाहिए और अपना जीवन सफल करना चाहिए | २०.

ॐ तत्सत्

जो ब्रह्मविद्या भी है और योगशास्त्र भी है ऐसे इस

श्री भगवान द्वारा गाये गये उपनिषद में आये हुए श्रीकृष्ण

और अर्जुन के संवाद का 'पुरुषोत्तम-योग' नामक पंद्रहवाँ

अध्याय यहाँ समाप्त होता है |

१६.

दैवासुर-संपद्-विभाग-योग

इस अध्याय में दैवी और आसुरी संपत्ति का वर्णन किया गया है | दैवी संपत्ति का अर्थ है धर्म-वृत्ति; आसुरी संपत्ति का अर्थ है अधर्म-वृत्ति |

४७

श्री भगवान बोले:

हे भारत! अभय, अंत:करण की शुद्धि, ज्ञान और योग में निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, अपैशुन, भूतदया, अलोलुपता, मृदुता, मर्यादा, अचंचलता, तेज़, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, निराभिमान-इतने गुण उस मनुष्य में होते हैं, जो दैवी संपत्ति लेकर उत्पन्न हुआ है | १-२-३.

टिप्पणी: दम का अर्थ है इन्द्रियों का निग्रह | अपैशुन का अर्थ है किसी की चुगली न खाना | अलोलुपता का अर्थ है लालसा न रखना, लम्पट न होना | तेज़ का अर्थ है हर प्रकार की हीन वृत्ति का विरोध करने का उत्साह |

अद्रोह का अर्थ है किसी का बुरा न चाहना अथवा बुरा न करना | हे पार्थ! दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान ये आसुरी सम्पति लेकर उत्पन्न होने वालों में रहते हैं | ४.

टिप्पणी: जो चीज अपने भीतर न हो उसे दिखाना दंभ, ढोंग, पाखंड है | दर्प का अर्थ है घमंड |

दैवी सम्पति मोक्ष देने वाली और आसुरी संपत्ति बंधन में डालने वाली है | है पांडव! तू शोक मत कर | तू तो दैवी संपत्ति लेकर उत्पन्न हुआ है | ५.

४८

इस लोक में दो प्रकार की सृष्टि है: दैवी और आसुरी | हे पार्थ! दैवी सृष्टि का मैंने विस्तार से वर्णन किया है | अब तू आसुरी सृष्टि का वर्णन मुझसे सुन | ६.

आसुर लोग प्रवृत्ति क्या है और निवृत्ति क्या है, यह नहीं जानते | न वे यह जानते कि उन्हें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए | इसी प्रकार उन्हें शुद्धि का या आचरण का भान नहीं होता और न उनमें सत्य होता है | ७.

वे कहते हैं: जगत असत्य, (धर्म के) आधार से रहित और ईश्वर-विहीन है; वह केवल नर-नारी के संबंध से उत्पन्न हुआ है | उसमें विषय-भोग के सिवा दूसरा क्या हेतु हो सकता है? ८.

ऐसी मान्यता को पकड़े रखकर भयंकर कार्य करने वाले, मंदबुद्धि, दुष्ट लोग जगत के शत्रु बनकर उसका नाश करने के लिए उत्पन्न होते हैं | ९.

तृप्त न हो सके ऐसी कामनाओं का आश्रय लेकर ये दंभी, मानी, मदांध तथा अशुभ निश्चयों वाले लोग मोह के कारण दुष्ट इच्छाओं को ग्रहण करके चलते हैं! १०.

प्रलय होने तक जिसका अन्त ही न आए ऐसी अपार चिंता का आश्रय लेकर, विषय-भोग के पीछे पड़े हुए, 'भोग ही सब कुछ है' ऐसा निश्चय करने वाले, सेंकड़ों आशाओं के जाल में फँसे हुए, कामी और क्रोधी लोग विषय-भोग के लिए अन्याय से द्रव्य का संचय करना चाहते हैं | ११-१२.

आज मैंने यह प्राप्त किया है, अब यह मनोरथ मैं पूरा करूँगा; आज इतना धन मेरे पास है और कल दूसरा इतना धन और मेरा हो जाएगा; इस शत्रु को तो मैंने मार डाला, अब दूसरों को भी मारूँगा; मैं सर्व-संपन्न हूँ, भोगी हूँ, सिद्ध हूँ, बलवान हूँ और सुखी हूँ; मैं श्रीमान हूँ, कुलीन हूँ, मेरे जैसा दूसरा इस जगत में कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, आनंद भोगूँगा-इस प्रकार अज्ञान से मूढ़ बने हुए लोग खुश होते हैं और अनेक भ्रमों में पड़कर, मोहजाल में फँसकर तथा विषय-भोग में लीन रहकर अशुभ नरक में गिरते हैं | १३-१४-१५-१६.

स्वयं ही अपने को बड़ा मानने वाले, हठी तथा घन और मान के मद में चूर ये लोग विधि का विचार किए बिना दंभ से केवल नाम के ही यज्ञ करते हैं | १७.

वे अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोध का आश्रय लेने वाले, निंदा करने वाले तथा अपने में और दूसरों में बसे हुए मुझसे द्वेष करने वाले होते हैं | १८.

उन नीच, द्वेषी, क्रूर और अमंगल नराधमों को मैं इस संसार की आसुरी योनि में ही बार-बार डालता हूँ | १९.

हे कौन्तय! हर जन्म में आसुरी योनि पाकर और मुझे न पाने के कारण वे मूढ़ लोग इससे भी अधिक अधम गति को प्राप्त करते हैं | २०.

४९

आत्मा का नाश करने वाला नरक का यह तिहरा द्वार है: काम, क्रोध और लोभ | इसलिए मनुष्य को इन तीनों का त्याग करना चाहिए | २१.

हे कौन्तेय! इस तिहरे नरक-द्वार से दूर रहने वाला मनुष्य आत्मा का कल्याण करता है और इसलिए परम गति को प्राप्त करता है | २२.

जो मनुष्य शास्त्रविधि को छोड़ कर स्वच्छन्दता से भोगों में रचा-पचा रहता है, वह न तो सिद्धि प्राप्त करता है और न सुख; परम गति भी उसे प्राप्त नहीं होती | २३.

टिप्पणी: यहाँ शास्त्रविधि का अर्थ धर्मशास्त्रों के नाम से पहचाने जाने वाले ग्रंथो में बताई हुई अनेक क्रियाएँ नहीं, परन्तु अनुभव-ज्ञान वाले सत्पुरुषों द्वारा बताया हुआ संयम-मार्ग है |

इसलिए कार्य और अकार्य का निर्णय करने में तुझे शास्त्र को प्रमाण मानना चाहिए | शास्त्रविधि क्या है, यह जान कर तुझे यहाँ कर्म करना चाहिए | २४.

टिप्पणी: शास्त्र का ऊपर जो अर्थ बताया गया है वही यहाँ भी समझा जाए |

इस श्लोक का आशय यह है कि सब लोग अपना कानून बना कर स्वेच्छाचारी न बनें, परन्तु धर्म के अनुभवी पुरुषों के वचनों को प्रणाम मानें |

ॐ तत्सत्

जो ब्रह्मविद्या भी है और योगशास्त्र भी है ऐसे इस
श्री भगवान द्वारा गाये गये उपनिषद् में आए हुए श्रीकृष्ण
और अर्जुन के संवाद का 'दैवासुर-संपद्-विभाग-योग'
नामक सोलहवाँ अध्याय यहाँ समाप्त होता है |

१७.

श्रद्धात्रय-विभाग-योग

शास्त्र अर्थात् शिष्टाचार को प्रमाण मानना चाहिए, ऐसा सुनकर अर्जुन को शंका हुई कि जो मनुष्य शिष्टाचार को स्वीकार न कर सके परन्तु श्रद्धा से आचरण करे, उसकी गति कैसी होती है | इस शंका का उत्तर देने का प्रयत्न इस अध्याय में किया गया है | लेकिन शिष्टाचार-रूपी दीपस्तंभ को छोड़ देने के बाद जो श्रद्धा रहती है उसमें अनेक भय हैं, यह बताकर भगवान ने संतोष मान लिया है | और इसलिए श्रद्धा के तथा उसके आश्रय में होने वाले यज्ञ, तप, दान आदि के उन्होंने गुणों के अनुसार तीन विभाग कर दिए हैं और अन्त में ॐ तत् सत् की महिमा गाई है |

४०

अर्जुन बोले:

हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्रविधि यानी शिष्टाचार को छोड़कर केवल श्रद्धा से ही पूजा, उपासना आदि करते हैं, उनकी वृत्ति कैसी मानी जाएँगी सात्त्विक, राजसी अथवा तामसी? १.

श्री भगवान बोले:

मनुष्यों की उनके स्वभाव के अनुसार तीन प्रकार की श्रद्धा होती है: सात्त्विकी, राजसी और तामसी | उसे तू सुन | २.

हे भारत! सब मनुष्यों की श्रद्धा उनकी अपनी प्रकृति-स्वभाव-का अनुसरण करती है | मनुष्य में किसी न किसी प्रकार की श्रद्धा तो होती ही है | जैसी जिसकी श्रद्धा होती है वैसा ही वह बनता है| ३.

सात्त्विक मनुष्य देवों को भजते हैं, राजस मनुष्य यक्षों और राक्षसों को भजते हैं और बाकी बचे हुए तामस मनुष्य भूत-प्रेत आदि को भजते हैं | ४.

दंभ और अहंकार वाले तथा काम और राग के बल से प्रेरित जो मनुष्य शास्त्रीय विधि से रहित घोर तप करते हैं, वे मूढ़ जन शरीर में विद्यमान पंच महाभूतों को तथा अंतःकरण में स्थित मुझे भी कष्ट पहुँचाते हैं | ऐसे मनुष्यों को तू आसुरी निष्ठा वाला समझ | ५-६.

आहार भी मनुष्य को तीन प्रकार का प्रिय होता है | इसी तरह यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकार के प्रिय होते है | उनका यह भेद तू सुन | ७.

आयु, सात्त्विकता, बल, स्वास्थ्य, सुख तथा रुचि को बढ़ाने वाले, रसपूर्ण, चिकने, पोषक और चित्त को संतोष देने वाले आहार सात्त्विक लोगों को प्रिय होते हैं | ८.

तीखे, खट्टे, खारे बहुत गरम, बहुत चरपरे, सूखे और शरीर में जलन पैदा करने वाले आहार राजस लोगों को प्रिय होते हैं, [यद्यपि] वे दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करने वाले होते हैं | ९.

घँटों पड़ा रहा, बिगड़ा हुआ, दुर्गंध-युक्त, रात का बासी, जूठा और अपवित्र भोजन तामस लोगों को प्रिय होता है | १०.

जिसमें फल की आशा नहीं होती, जो विधिपूर्वक कर्तव्य समझ कर और एकाग्र तथा स्थिर मन से किया जाता है, वह यज्ञ सात्त्विक है | ११.

हे भरतश्रेष्ठ! जो यज्ञ फल के उद्देश्य से और दंभ से किया जाता है, उसे तू राजसी यज्ञ जान | १२.

जिस यज्ञ में विधि नहीं होती, अन्न की उत्पत्ति और तृप्ति नहीं होती, मंत्र नहीं होता, त्याग नहीं होता और श्रद्धा नहीं होती, वह तामस यज्ञ कहा जाता है | १३.

देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा-यह शारीरिक तप कहा जाता है | १४.

किसी को दुःख न दे ऐसा, सत्य, प्रिय तथा हितकारी वचन और धर्मग्रंथों का अध्ययन-यह वाचिक तप कहा जाता है | १५.

मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्म-संयम और भावना की शुद्धि-यह मानसिक तप कहा जाता है | १६.

समभावी पुरुष जब फल की इच्छा का त्याग करके परम श्रद्धा के साथ यह तीन प्रकार का तप करते हैं, तब उसे बुद्धिमान लोग सात्त्विक तप कहते हैं | १७.

जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए दंभ से किया जाता है, वह अस्थिर और अनिश्चित तप राजस कहा जाता है | १८.

जो तप पीड़ा भोग कर, दुराग्रह से या दूसरों का नाश करने के लिए किया जाता है, वह तामस तप कहा जाता है | १९.

दान देना उचित है ऐसी समझ के साथ तथा बदला मिलने की आशा रखे बिना देश, काल और पात्र को देखकर जो दान दिया जाता है, वह सात्त्विक दान कहा जाता है | २०.

जो दान बदला पाने के लिए अथवा फल की आशा रखकर और दुःख के साथ दिया जाता है, वह राजसी दान कहा जाता है | २१.

जो दान गलत स्थान पर, कुसमय में और अपात्र को दिया जाता है अथवा सम्मान के बिना, तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है, वह दान तामसी कहा जाता है | २२.

५१

ब्रह्म का वर्णन 'ॐ' तत् सत्' इस तरह तीन प्रकार से हुआ है और उसके द्वारा सृष्टि के आरंभ में ब्राह्मण, वेद और यज्ञ रचे गए थे | २३.

इसी कारण से ब्रह्मवादियों की यज्ञ, दान और तपरूपी क्रियाएँ सदा 'ॐ' का उच्चारण करके विधिवत् होती है | २४.

इसके अतिरिक्त, मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले मनुष्य 'तत्' का उच्चारण करके फल की आशा रखे बिना यज्ञ, तप तथा दानरूपी विविध प्रकार की क्रियाएँ करते हैं | २५.

सत्य तथा कल्याण के अर्थ में 'सत्' शब्द का प्रयोग होता है | और, हे पार्थ! शुभ कर्मों में भी 'सत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है | २६.

यज्ञ, तप और दान के विषय में रहने वाली दृढ़ता को भी सत् कहा जाता है | कर्म इन्हीं के लिए है, ऐसा संकल्प भी सत् कहा जाता है | २७.

टिप्पणी: ऊपर के तीन श्लोकों का भावार्थ यह हुआ कि प्रत्येक कर्म ईश्वर को अर्पण करके ही किया जाए, क्योंकि 'ॐ' ही सत् है, सत्य है | उसे अर्पण किया हुआ कर्म ही फल देता है |

हे पार्थ! जो यज्ञ, दान, तप अथवा अन्य कार्य श्रद्धा के बिना होता है, वह असत् कहा जाता है | उसमे न तो इस लोक में लाभ होता है और न परलोक में लाभ होता है | २८.

ॐ तत्सत्

जो ब्रह्मविद्या भी है और योगशास्त्र भी है ऐसे इस

श्री भगवान द्वारा गाये गये उपनिषद् में आये हुए श्रीकृष्ण

और अर्जुन के संवाद का 'श्रद्धात्रय-विभाग-योग' नामक

सत्रहवाँ अध्याय यहाँ समाप्त होता है |

१८.

संन्यास-योग

यह अध्याय उपसंहार के रूप में माना जाएगा | इसका तथा संपूर्ण गीता का प्रेरक मंत्र यह कहा जाएँगा: 'सारे धर्मों का त्याग करके तू मेरी शरण ले |' यही सच्चा संन्यास है | परन्तु सारे धर्मों के त्याग का अर्थ सारे कर्मों का त्याग नहीं है | परोपकार के कर्म भी ईश्वर को अर्पण करने चाहिए और फल की इच्छा छोड़ देनी चाहिए | यही सबसे श्रेष्ठ कर्म है; यही सर्व-धर्म-त्याग अथवा संन्यास है |

५२

अर्जुन बोले:

हे महाबाहो! हे हृषीकेश! केशिनिषूदन! मैं संन्यास और त्याग का अलग-अलग रहस्य जानना चाहता हूँ | १.

श्री भगवान बोले:

कामना से उत्पन्न होने वाले (काम्य) कर्मों के त्याग को ज्ञानीजन संन्यास के नाम से जानते हैं | समस्त कर्मों के फल के त्याग को बुद्धिमान लोग त्याग कहते हैं | २.

कुछ विचारवान पुरुष कहते है: सारे कर्म दोषमय होने के कारण त्याग करने योग्य हैं; दूसरे कहते है: यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म त्याग ने योग्य नहीं हैं | ३.

हे भरतसत्तम! इस त्याग के विषय में मेरा निर्णय तू सुन | हे पुरुषव्याघ्र! त्याग तीन प्रकार का कहा गया है | ४.

यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म त्याग ने योग्य नहीं परन्तु करने योग्य हैं | यज्ञ, दान और तप विवेकी मनुष्य को पावन करने वाले हैं | ५.

हे पार्थ! ये कर्म भी आसक्ति और फल की इच्छा का त्याग करके किए जाने चाहिए, ऐसा मेरा निश्चित और उत्तम मत है | ६.

नियत कर्म का त्याग उचित नहीं है | मोह के वश होकर यदि उसका त्याग किया जाए, तो वह त्याग तामस माना जाता है | ७.

जो मनुष्य किसी कर्म का त्याग उसे दुःख-कारक मानकर तथा उस में होने वाले शारीरिक कष्ट के भय से करता है, उसका वह त्याग राजस है और इसलिए उसे कर्म के त्याग का फल नहीं मिलता | ८.

हे अर्जुन! करना ही चाहिए ऐसा समझ कर जब नियत कर्म आसक्ति त्याग के साथ किया जाता है, तब वह त्याग सात्त्विक माना जाता है | ९.

संशय-रहित बना हुआ, शुद्ध भावना वाला, त्यागी और बुद्धिमान पुरुष असुविधा वाले कर्मों से द्वेष नहीं करता और सुविधा वाले कर्मों से प्रसन्न नहीं होता | १०.

समस्त कर्मो का सर्वथा त्याग करना देहधारी के लिए संभव नहीं है | परन्तु जो मनुष्य कर्म के फल का त्याग करता है, वह त्यागी कहलाता है | ११.

त्याग नहीं करने वाले मनुष्य के लिए कर्म का फल, मृत्यु के बाद, तीन प्रकार का होता है: अशुभ, शुभ और शुभ-अशुभ | जो मनुष्य त्यागी (संन्यासी) है, उसके विषय में ऐसा कभी नहीं होता | १२.

५३

हे महाबाहो! प्रत्येक कर्म की सिद्धि के विषय में सांख्यशास्त्र में ये पाँच कारण बताए गए हैं | इन्हें तू मुझसे जान ले | १३.

ये पाँच कारण हैं: क्षेत्र, कर्ता, अलग अलग साधन, अलग अलग क्रियाएँ और पाँचवां दैव |

१४.

शरीर, वाणी अथवा मन से मनुष्य जो भी कर्म नीति के अनुसार अथवा नीति के विरुद्ध करता है, उसके ये पाँच कारण होते ही हैं | १५.

ऐसा होते हुए भी असंस्कारी बुद्धि के कारण जो मनुष्य केवल अपने को ही कर्ता मानता है, वह मूढ़ बुद्धि वाला कुछ नहीं समझता | १६.

जिस मनुष्य में (मैं करता हूँ ऐसा) अहंकार का भाव नहीं होता, जिसकी बुद्धि (आसक्ति से) मलिन नहीं हुई है, वह इस जगत को मारते हुए भी नहीं मारता और न बन्धन में बंधता है | १७.

टिप्पणी: ऊपर ऊपर से पढ़ने पर यह श्लोक मनुष्य को भुलावे में डालने वाला मालूम होता है | गीता के अनेक श्लोक काल्पनिक आदर्श का अवलम्बन लेने वाले हैं | उसका प्रत्यक्ष उदाहरण जगत में नहीं मिल सकता | परन्तु उपयोग के लिए भी जिस प्रकार भूमिति में काल्पनिक आदर्श आकृतियों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार धर्म के आचरण के संबंध में भी काल्पनिक आदर्श की आवश्यकता रहती है | इसलिए इस श्लोक का अर्थ इसी तरह किया जा सकता है:

जिस मनुष्य ने अहंता-अहंभाव-को जला कर भस्मीभूत कर दिया है और जिसकी बुद्धि में थोड़ी भी मलिनता नहीं है, वह चाहे तो भले सारे जगत को मार डाले | परन्तु जिसमें अहंता नहीं है, उसका शरीर ही नहीं है | जिसकी बुद्धि विशुद्ध है, वह मनुष्य त्रिकालदर्शी है, ऐसा पुरुष तो केवल एक भगवान ही है | वह कर्म करते हुए भी अकर्ता है; वध करते हुए भी अहिंसक है | इसलिए मनुष्य के सामने तो किसीको न मारने का और शिष्टाचार-शास्त्र-का पालन करने का ही एकमात्र मार्ग रहता है |

कर्म की प्रेरणा में तीन तत्त्व समाये रहते हैं: ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता | इसी प्रकार कर्म के अंग भी तीन प्रकार के होते हैं: इन्द्रियाँ, क्रिया और कर्ता | १८.

टिप्पणी: इसमें विचार और आचार का समीकरण है | पहले मनुष्य करना क्या है (ज्ञेय) उसकी रीती (ज्ञान) को जानता है-परिज्ञाता बनता है | इस प्रकार कर्म की प्रेरणा होने के बाद वह इन्द्रियों (करण) द्वारा क्रिया का करने वाला बनता है | यह कर्म-संग्रह है |

गुणों के भेद के अनुसार ज्ञान, कर्म और कर्ता तीन प्रकार के होते हैं | गुण-गणना में इनका जैसा वर्णन किया गया है उसे तू सुन | १९.

जिस ज्ञान से मनुष्य समस्त भूतों में एक ही अविनाशी भाव के तथा विविधता में एकता के दर्शन करता है, उसे तू सात्त्विक ज्ञान समझ | २०.

जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य अलग-अलग (दिखाई देनेवाले) होने के कारण सारे प्राणियों में अलग-अलग विभाजित भावों को देखता है, उस ज्ञान को तू राजस जान | २१.

जिस ज्ञान के द्वारा, बिना किसी कारण के एक ही वस्तु में सब-कुछ समाया हुआ मानकर मनुष्य आसक्त रहता है और जो ज्ञान रहस्य-हीन तथा तुच्छ है, वह ज्ञान तामस कहा जाता है | २२.

फल की इच्छा से रहित पुरुष के द्वारा आसक्ति तथा राग-द्वेष से मुक्त रहकर किया गया नियत कर्म सात्त्विक कहलाता है | २३.

टिप्पणी: नियत कर्म का अर्थ है मन के द्वारा इन्द्रियों को अंकुश में रख कर किया गया कर्म | देखिए टिप्पणी अध्याय 3, श्लोक ८ |

भोग की इच्छा रखने वाला मनुष्य 'मैं करता हूँ' की भावना से धाँधली में, शक्ति का बहुत अपव्यय करके जो कर्म करता है, वह राजस कर्म कहलाता है | २४.

परिणामों का, हानि का, हिंसा का या अपनी शक्ति का विचार किए बिना मोह के वश होकर मनुष्य जो कर्म आरंभ करता है, वह तामस कर्म कहा जाता है | २५.

[**टिप्पणी:** इस श्लोक में आए हुए 'अनुबंध' शब्द में 'परिणाम' से अधिक गहरा भाव है | किसी कर्म का प्रत्यक्ष या परोक्ष संबंध जहाँ जहाँ होता है और उसका असर जहाँ जहाँ पहुँचता है, उस संपूर्ण विस्तार को अनुबंध कहा जाता है | -का]

जो आसक्ति और अहंकार से रहित है, जिसमें दृढ़ता और उत्साह है और जो सफलता तथा असफलता में हर्ष या शोक नहीं करता, वह सात्त्विक कर्ता कहलाता है | २६.

जो रागी है, कर्म के फल की इच्छा रखने वाला है, लोभी है, हिंसा करने वाला है, मलिन मन वाला है तथा हर्ष और शोक करने वाला है, वह राजस कर्ता कहा जाता है | २७.

जो अव्यवस्थित, असंस्कारी, घमंडी, धूर्त, दुष्ट, क्रूर, आलसी, शोकयुक्त और दीर्घसूत्री है, वह तामस कर्ता कहा जाता है | २८.

हे धनंजय! अब मैं गुणों के अनुसार बुद्धि तथा धृति के, विस्तार से और अलग अलग, तीन प्रकार बताता हूँ | उन्हें तू सुन | २९.

प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय तथा बंधन और मोक्ष का भेद जो बुद्धि समुचित रूप में जानती है, वह सात्त्विकी बुद्धि है | ३०.

जो बुद्धि धर्म तथा अधर्म का और कार्य तथा अकार्य का विवेक अशुद्ध-गलत-रीति से करती है, वह बुद्धि है पार्थ! राजसी है | ३१.

हे पार्थ! जो बुद्धि अँधकार से घिरी हुई होने के कारण अधर्म को ही धर्म मानती है और सारी बातों को उलटी ही दृष्टि से देखती है, वह बुद्धि तामसी है | ३२.

जिस एकनिष्ठ धृति से मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को साम्यबुद्धि से धारण करता है, वह धृति है पार्थ! सात्त्विकी है | ३३.

हे पार्थ! जिस धृति के द्वारा मनुष्य फलाकांक्षी होकर धर्म, अर्थ और काम को आसक्तिपूर्वक धारण करता है, वह धृति राजसी है | ३४.

जिस धृति से दुष्ट बुद्धि वाला मनुष्य निद्रा, भय, शोक, खेद और मद को छोड़ नहीं सकता, वह है पार्थ! तामसी धृति है | ३५.

हे भरतर्षभ! अब तू मुझ से तीन प्रकार के सुख का वर्णन सुन | अभ्यास से ही जिसमें मनुष्य आनंदित होता है, जिससे उसके दुःख का अन्त होता है, जो आरंभ में जहर जैसा लगता है और परिणाम में अमृत जैसा सिद्ध होता है तथा जो आत्मज्ञान की प्रसन्नता से उत्पन्न होता है, वह सुख सात्त्विक कहलाता है | ३६-३७.

विषयों और इन्द्रियों के संयोग से जो सुख आरंभ में अमृत जैसा लगता है, परन्तु परिणाम में ज़हर जैसा सिद्ध होता है, वह सुख राजस कहलाता है | ३८.

जो सुख आरंभ में और परिणाम में आत्मा को मोह में डालने वाला है और निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद से उत्पन्न हुआ है, वह तामस सुख कहलाता है | ३९.

पृथ्वी पर अथवा स्वर्ग में देवों के बीच ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न हुए इन तीन गुणों से मुक्त हो | ४०.

५४

हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्मों के भी उनके स्वभाव-जन्य गुणों के कारण विभाग किए गए हैं | ४१.

शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, अनुभव से उत्पन्न विज्ञान और आस्तिकता-ये ब्राह्मण के स्वभाव-जन्य कर्म हैं | ४२.

शौर्य, तेज़, धृति, दक्षता, युद्ध में पीछे न हटना, दान और प्रभुत्व-शक्ति-ये सब क्षत्रिय के स्वभावजन्य कर्म है | ४३.

खेती, गोरक्षा और व्यापार ये वैश्य के स्वभावजन्य कर्म हैं | और शूद्र का स्वभावजन्य कर्म सेवाचाकरी है | ४४.

अपने अपने कर्म में रत रहकर मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करता है | अपने कर्म में रत रहने वाले मनुष्य को मोक्ष कैसे मिलता है, अब तू यह सुन | ४५.

जिसके द्वारा प्राणियों की प्रवृत्ति चलती है, जिसके द्वारा यह समस्त जगत व्याप्त है, उस परमात्मा को जो मनुष्य अपने कर्म के द्वारा भजता है वह मोक्ष पाता है | ४६.

परधर्म सरल हो तो भी गुण-रहित स्वधर्म उससे अधिक अच्छा है | स्वभाव के अनुसार निश्चित किया हुआ कर्म करने से मनुष्य को पाप नहीं लगता | ४७.

टिप्पणी: स्वधर्म का अर्थ है अपना कर्तव्य | गीता की शिक्षा का मध्यबिंदु है कर्मफल का त्याग, और स्वधर्म की अपेक्षा दूसरा उत्तम कर्तव्य खोजने पर फल त्याग के लिए अवकाश नहीं रहता; इसलिए स्वधर्म को श्रेष्ठ कहा गया है | समस्त धर्म का फल उसके पालन में आ जाता है |

हे कौन्तय! सहज प्राप्त हुआ कर्म दोष वाला हो तो भी उसे नहीं छोड़ना चाहिए | जिस प्रकार आग के साथ धुआँ रहता ही है उसी प्रकार सब कर्मो के साथ दोष लगा ही रहता है | ४८.

जिसने सब ओरसे अपनी आसक्ति को खींच लिया है, जिसने कामनाओं का त्याग कर दिया है, जिसने अपने-आपको जीत लिया है, वह मनुष्य संन्यास के द्वारा नैष्कर्म्य-रूपी परम सिद्धि को प्राप्त करता है | ४९.

है कौन्तेय! यह सिद्धि प्राप्त करने के बाद मनुष्य ब्रह्म को कैसे प्राप्त करता है, यह तू संक्षेप में मुझसे सुन | यही ज्ञान की चरम सीमा है | ५०.

जिसकी बुद्धि शुद्ध हो गई है ऐसा योगी दृढ़तापूर्वक अपने-आपको वश में करके, शब्द-रूप-रस आदि विषयों का त्याग करके, राग-द्वेष को जीत कर, एकांत का सेवन करके, आहार को अल्प करके, वाणी-शरीर-मन को अंकुश में रखकर, ध्यानयोग में नित्य परायण रहकर, वैराग्य का

आश्रय लेकर, अहंकार-बल-दर्प-काम-क्रोध और परिग्रह का त्याग करके तथा ममता-रहित और शांत होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त करने योग्य बनता है | ५१-५२-५३.

इस प्रकार ब्रह्मभाव को प्राप्त हुआ प्रसन्न-चित्त मनुष्य न तो शोक करता है, न किसी बात की इच्छा करता है | वह भूत मात्र के प्रति समभाव रखकर मेरी परम भक्ति को प्राप्त करता है | ५४.

मैं कितना महान हूँ और कौन हूँ, यह बात भक्ति के द्वारा वह यथार्थ रूप में जानता है और इस तरह मुझे यथार्थ रूप में जानने के बाद वह मुझ में प्रवेश करता है | ५५.

मेरा आश्रय लेने वाला मनुष्य सदा सारे कर्म करते हुए भी मेरी कृपा से शाश्वत, अव्यय पद को प्राप्त करता है | ५६.

५५

तू मन से समस्त कर्मों को मुझ में अर्पण करके, मुझ में लीन होकर, विवेक-बुद्धि का आश्रय लेकर सदा मुझ में अपने चित्त को लगाएँ रख | ५७.

मुझ में चित्त को लीन करने से तू कठिनाइयों रूपी सारे पहाड़ों को मेरी कृपा से लाँघ जाएँगा | लेकिन यदि तू अहंकार के वश होकर मेरी बात नहीं सुनेगा, तो नाश को प्राप्त होगा | ५८.

तू अहंकार के वश होकर यदि यह माने कि 'मैं नहीं लड़ूँगा,' तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है | तेरा स्वभाव ही तुझे युद्ध की ओर बलपूर्वक घसीट कर ले जाएँगा | ५९.

हे कौन्तेय! अपने स्वभाव-जन्य कर्म से बँधा हुआ तू मोह के वश होकर जो कार्य नहीं करना चाहता, उसे तू विवश होकर करेगा | ६०.

हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में वास करता है; और अपनी माया के प्रताप से उन्हें कुम्हार के चक्र पर चढ़े हुए घड़े की तरह गोल-गोल घुमाता है | ६१.

हे भारत! तू सच्ची भावना से उसीकी शरण ले | उसकी कृपा से तू परम शांतिमय अमर-पद को प्राप्त प्राप्त करेगा | ६२.

इस प्रकार मैंने तुझसे यह गुह्य से गुह्य ज्ञान कहाँ है | इस सब पर अच्छी तरह विचार करके तुझे जैसा उचित लगे वैसा कर | ६३.

इसके अतिरिक्त, तू सबसे अधिक रहस्यमय मेरा परम वचन सुन | तू मुझे अत्यन्त प्रिय है, इसलिए मैं तेरे हित की बात तुझ से कहूँगा | ६४.

तू मेरी लौ लगा, मेरा भक्त बन, मेरे लिए यज्ञ कर, मुझे प्रणाम कर | तू मुझे ही प्राप्त करेगा, यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है | तू मुझे प्रिय है | ६५.

सब धर्मों का त्याग करके तू केवल मेरी ही शरण ले | मैं तुझे सारे पापों से मुक्त करूँगा | तू शोक मत कर | ६६.

५६

जो मनुष्य तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो सुनना नहीं चाहता और जो मुझसे द्वेष या ईर्ष्या करता है, उससे तू यह (ज्ञान) कभी मत कहना | ६७.

परन्तु जो मनुष्य यह परम गुह्य ज्ञान मेरे भक्तों को देगा, वह मेरी परम भक्ति करने के कारण निश्चित रूप से मुझे ही प्राप्त करेगा | ६८.

मनुष्यों में उसकी उपेक्षा मेरा कोई अधिक प्रिय सेवक नहीं और इस पृथ्वी पर उससे अधिक प्रिय कोई मेरा होने वाला भी नहीं है | ६९.

टिप्पणी: यहाँ कहने का आशय यह है कि इस ज्ञान का जिसने अनुभव किया है, वही मनुष्य इसे दूसरों को दे सकता है | जो मनुष्य केवल शुद्ध उच्चारण करके दूसरों को यह ज्ञान अर्थ-सहित सुना भर दे, उसके लिए ऊपर के दो श्लोक नहीं है |

हमारे बीच के इस धार्मिक और पवित्र संवाद का जो मनुष्य अध्ययन करेगा, वह मुझे ज्ञानयज्ञ के द्वारा भजेगा, ऐसा मेरा मत है | ७०.

इसके अतिरिक्त, जो मनुष्य द्वेष-रहित होकर श्रद्धा से इस संवाद को केवल सुनेगा, वह भी पाप मुक्त होकर उस शुभ लोक को प्राप्त करेगा जहाँ पुण्यवान रहते हैं | ७१.

हे पार्थ! क्या तूने यह सब एकाग्र चित्त से सुना है? हे धनंजय! अज्ञान के कारण तुझे जो मोह हो गया था, वह क्या नष्ट हुआ? ७२.

अर्जुन बोले:

हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है | मुझ में फिर से समझ आ गई है; शंका का समाधान हो जाने से मैं स्वस्थ हो गया हूँ | मैं आपके कहे अनुसार ही करूँगा | ७३.

संजय बोले:

इस प्रकार मैंने वासुदेव और महात्मा अर्जुन के बीच हुआ यह रोमांचित करने वाला अद्‌भुत संवाद सुना | ७४.

व्यासजी की कृपा से योगेश्वर कृष्ण के मुख से मैंने यह रहस्यमय परम-योग सुना | ७५.

हे राजन् केशव और अर्जुन के बीच हुए इस अद्‌भुत और पवित्र संवाद को याद कर करके मैं बार-बार हर्षित होता हूँ | ७६.

तथा है राजन! हरि के उस अद्‌भुत रूप को याद करते करते मैं महान आश्चर्य में डूब जाता हूँ और बार-बार हर्ष से भर जाता हूँ | ७७.

मेरा यह स्पष्ट मत है कि जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धारी अर्जुन हैं, वहाँ श्री है, विजय है, वैभव है और अविचल नीति भी है | ७८.

टिप्पणी: योगेश्वर कृष्ण अर्थात् अनुभव-सिद्ध शुद्ध ज्ञान और धनुर्धारी अर्जुन अर्थात् उस ज्ञान के अनुसार होने वाली क्रिया-इन दो का संगम जहाँ होता है वहाँ संजय ने जो बताया उसके सिवा दूसरा क्या परिणाम हो सकता है?

ॐ तत्सत्

जो ब्रह्मविद्या है और योगशास्त्र भी है ऐसे इस श्री भगवान

द्वारा गाये गये उपनिषद् में आए हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन

के संवाद का 'संयास-योग' नामक अठारहवाँ अध्याय

यहाँ समाप्त होता है |

'अनासक्तियोग' भी यहाँ समाप्त होता है |

ॐ शांति: